एकादशोऽध्याय ।

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

एकादशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलरीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :
प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० इ०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
पटना—५ (बिहार)
मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी—१

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०, तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का एकादश अध्याय (विश्वरूपदर्शनयोग) प्रकाशित हो रहा है। सप्तम अध्याय के परिशिष्ट में एकादश अध्याय का भी तात्पर्य दिया गया है। उस तात्पर्य के साथ यदि इस अध्याय की स्वामीजीकृत विस्तृत व्याख्या को मिलाकर पाठक मनन करें तो अध्याय का रहस्य अधिक सुगमता से विदित हो सकेगा।

इस अध्याय की हस्तलिपि प्रस्तुत करने के लिए श्री अभिजित करने अक्लान्त परिश्रम किया है। इसके लिए गीतामण्डली उनके प्रति अशेष कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

कार्तिकी पूर्णिमा
संवत् २०२८
ता० २-११-१९७१

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

एकादशोऽध्यायः

"विश्वरूपदर्शनयोगः"

[पूर्वाध्याय में भगवान् के नानाप्रकार की विभूतियों का वर्णन करने के पश्चात् अन्त में जब भगवान् ने कहा कि 'विष्टभ्याहमिदं' इत्यादि अर्थात् "मैं इस सारे जगत् को एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ" तब यह सुनकर ईश्वर का जो जगदात्मक आदि स्वरूप (विश्वरूप) है उसके प्रत्यक्ष दर्शन करने की इच्छा से अर्जुन बोला—]

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अन्वयः—अर्जुन उवाच—त्वया मदनुग्रहाय यत् परमम् गुह्यम् अध्यात्म-संज्ञितम् वचः उक्तम् तेन मम अयम् मोहः विगतः ।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—तुमने मेरे प्रति अनुग्रह कर अध्यातम नाम का जो परमगुह्य वचन कहा उससे मेरा यह मोह (अविवेक या अज्ञान) दूर हो गया है ।

भाष्यदीपिका—अर्जुनः उवाच—अर्जुन (शुद्धबुद्धिवाला जीव) ने कहा **त्वया मदनुग्रहाय**—मुझ पर अनुग्रह करने के लिए तुमने **यत् परमम् गुह्यम्**

अध्यात्मसंज्ञितम् वचः उक्तम्—जो परम [अत्यन्त श्रेष्ठ अथवा परमार्थनिष्ठ (श्रीधर)] गुह्य (गोपनीय) अध्यात्मनामक (आत्मा-अनात्मा के विवेचन विषयक) वाक्य कहा ['अध्यात्म' इस नाम से कहा जाने वाला 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (गीता २।११) यहाँ से लेकर छठवें अध्याय तक 'त्वम्' पदार्थ के अर्थ की प्रधानता से युक्त आत्मा-अनात्मा के विवेक से सम्बन्ध रखनेवाला तथा निरतिशय पुरुपार्थ में समाप्त होनेवाला जो गुह्य (गोपनीय) वाक्य तुमने अर्थात् परमकारुणिक एवं सर्वज्ञ ने मुझसे कहा है (मधुसूदन)] **तेन मम अयम् मोहः विगतः**—उस वाक्य से 'मैं इनको मारने वाला हूँ और ये मुझसे मारे जाने वाले हैं' ऐसे नाना-प्रकार का विपरीत ज्ञानरूप यह अर्थात् अनुभव से दिखायी देनेवाला (जिसका मैं स्वयं ही अनुभव कर रहा हूँ ऐसा) मोह (अविवेक बुद्धि) विगत (विनष्ट) हो गया है [क्योंकि तुम्हारे उन वचनों से बारबार आत्मा की सर्वविकारशून्यता (आत्मा का नित्यत्व, अजत्व, अमरत्व, अचलत्व) कही गयी है । (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—विभूतिवैभवं प्रोच्य कृपया परया हरिः ।
दिदृक्षोरर्जुनस्याथ विश्वरूपमदर्शयत् ॥

भगवान् श्रीहरिने परमकृपापूर्वक अपनी विभूतियों का वैभव वर्णन कर विश्वरूप-दर्शन की इच्छा वाले अर्जुन को विश्वरूप दिखाया ।

पूर्व अध्याय के (१० वें अध्याय के) अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ' इस प्रकार कहकर जिस विश्वात्मक परमेश्वरीय स्वरूप का निर्देश किया था उसके दर्शन की इच्छा करने वाला अर्जुन पहले कहे हुए वचनों का अभिनंदन करता हुआ बोला—**मदनुग्रहाय**—मुझ पर अनुग्रह करने के लिये अर्थात् मेरे शोक की निवृत्ति के उद्देश्य से **परमम्**—परमार्थनिष्ठ **गुह्यम् अध्यात्मसंज्ञितम्**—गुप्त रखने योग्य अध्यात्मनामक (अर्थात् आत्मा-अनात्मा के विवेकविषयक) **यत् वचः त्वया उक्तम्**—'अशोच्यानन्व-शोचस्त्वम्' इत्यादि छठवें अध्याय तक जो वचन तुमने कहा **तेन अयम् मोहः विगतः**—उससे मेरा यह मोह (मैं मारने वाला हूँ और ये लोग मारे जाते हैं इस प्रकार का भ्रम) क्योंकि उन वचनों द्वारा तुमने आत्मा के कर्तृत्वादि का अभाव बताया ।

(२) **शंकरानन्द**—दसवें अध्याय में मन्दबुद्धि वाले मनुष्यों को अपनी विशेष विभूतियों की उपासना कर मन की शुद्धि लाभ करके मोक्ष प्राप्त हो, इसके लिये भगवान् ने विभूतियों का प्रतिपादन किया। फिर अमन्दबुद्धि वाले (विवेकी) पुरुषों के लिये दसवें अध्याय के अन्त में 'विष्टभ्याहम्' इत्यादि से केवल विश्वात्मक सोपाधिक ईश्वरस्वरूप को उपास्यरूप से सूचित कर अब अर्जुन की प्रार्थना से माया-विलास से प्रतीत होने वाले अपने अति अद्भुत विश्वरूप को दिखलाने के लिये तथा 'अपने से सृष्टि-स्थिति-प्रलय क्रिया सम्पादित होती है' यह प्रकाश करने के लिए एवं अपने साक्षात्कार की अतिदुर्लभता और वह जो केवल भक्ति से प्राप्य हो सकती, इसे प्रतिपादन करने के लिये ग्यारहवें अध्याय का आरंभ किया जाता है। इस अध्याय के पहले सम्पूर्ण जगत् के कारण सर्वात्मक, सर्वैश्वर्यसम्पन्न स्वरूप को उपास्य-रूप से भगवान् द्वारा बोधित किया गया ऐसा जानकर उसके साक्षात्कार करने की इच्छा कर भगवान् द्वारा किये गये अनुग्रह के अनुवाद द्वारा भगवान् को अभिमुख करने के लिये अर्जुन बोले—**मदनुग्रहाय**—'ये मेरे भाई, पुत्र आदि मरते हैं, इनको मारने वाला मैं हूँ'—इस प्रकार सोचकर शोक-मोह के सागर में डूब रहे मुझ पर अनुग्रह करने के लिये अर्थात् मोह से शोक कर रहे मुझपर कृपापूर्वक अनुग्रह करने के लिये। **अध्यात्मसंज्ञितम्**—जिससे आत्मा का यथार्थस्वरूप प्रकाशित होता है उसे 'अध्यात्मसंज्ञित' कहते हैं। 'जो शोक करने योग्य नहीं है उसके विषय में तुम शोक कर रहे हो' (गीता २।११), 'न यह मरता है, न मारा जाता है' (गीता २।२६), 'न कभी पैदा होता है, न मरता है' (गीता २।२०), 'जो इसे अविनाशी तथा नित्य जानता है' (गीता २।२१), यह अछेद्य है (गीता २।२४), इत्यादि पूर्व में कहे हुये वचन आत्मा के स्वरूप के प्रकाशक होने के कारण 'अध्यात्मसंज्ञित' हैं। **परमम्**—परमार्थविषयक अर्थात् आत्मा के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भ्रम का नाश करने वाले, इसलिये **गुह्यम्**—गोपनीय अर्थात् अयोग्य, असद्धर्म में आसक्त तथा अश्रद्धासम्पन्नों (श्रद्धाहीनों) को न देने योग्य **यत् वचः त्वया उक्तम्**—जिस वचन का तुमने उपदेश दिया **तेन**—आत्म तथा अनात्म वस्तु के स्वरूप का प्रकाशक अतः मिथ्याज्ञान के निवर्तक उस वचन से **अयम्**—पूर्वोक्त लक्षण वाला **मम मोहः**

विगतः—मेरा मोह अर्थात् चित्त का भ्रम विशेष रूप से निकल गया। आपकी कृपा से मैं विनष्टमोह हो गया हूँ (मेरा मोह विशेषभाव से नष्ट हो गया है) यह कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पहले अध्याय में अर्जुन का आत्मा के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट ज्ञान न रहने के कारण देह को ही आत्मा समझकर 'मैं बाणों से किस प्रकार गुरु द्रोणाचार्य की तथा परमपूज्य पितामह भीष्म की एवं स्वजन बान्धवों की हत्या करूँगा' (गीता १।३७) इस प्रकार कहकर अपने को हन्ता तथा दूसरों को अपने द्वारा हत समझकर अर्जुन ने मोहवश यही सिद्धान्त किया कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' द्वितीय अध्याय से दशम अध्याय तक भगवान् ने बारंबार अर्जुन को समझाया कि आत्मा देह, इन्द्रिय इत्यादि से सम्पूर्णतया पृथक् है एवं आत्मा सर्व प्रकार के प्रपञ्च से रहित, विकार से रहित, चंचलता से रहित तथा नित्य सत्य वस्तु है। आत्मा के प्रति अज्ञान ही संसार में मोह की उत्पत्ति का हेतु है। अतः भगवान् ने उन अध्यायों में किन उपायों से आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है इसके लिए कर्म, यज्ञ, भक्ति अष्टांगयोग तथा ज्ञानयोग का विस्तृतरूप से निर्देश किया है। अन्त में यह सिद्धान्त किया कि किसी भी उपाय से मन को स्थिर करने पर नित्य सत्य स्वयंप्रकाश परमात्मसत्ता जिसको शास्त्रों में ब्रह्म या भगवान् कहते हैं वह स्वतः ही प्रकट होता है जिसका साक्षात् अनुभव होने से जो सुख प्राप्त होता है वह समस्त जगत् के सुख को फीका कर देता है (गीता ६।२१, २२, २९)। फिर उस आत्म-सत्ता का साक्षात्कार होनेपर साथ-साथ जगत् का मिथ्यापन भी निश्चय हो जाता है। १० वें अध्याय में भगवान् की विशेष विभूतियों का वर्णन किया गया है जिससे कि मुमुक्षु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भगवान् की किसी विशेष शक्ति का आश्रय कर मन को स्थिर कर सकें। उत्तम अधिकारी के लिये इसका प्रयोजन नहीं होता है क्योंकि वह सर्वरूप में एवं सर्वदेश में केवल भगवान् का ही अनुसन्धान मन को एकाग्र तथा विक्षेपरहित कर सकता है। इसलिए उन्हें विशेष विभूति के ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार अधिकारी को उद्देश करके ही भगवान् ने पूर्व अध्याय के अन्त में कहा—'अथवा बहुनैतेन' इत्यादि अर्थात् अधूरी विभूतियों के

विस्तार को जानने से तुम्हारा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा। तुम तो बस यही जान लो कि सर्वभूतात्मा में मैं मेरे एक अंश से (एक पद से) सारे जगत् को विशेषरूप से दृढ़तापूर्वक धारण करके स्थित हो रहा हूँ। इन वचनों को सुनकर अर्जुन की बुद्धि में यह बात पक्की हो गयी कि भगवान् जगदात्मक हैं अर्थात् भगवान् ही सर्वनाम तथा रूप में विराजित हैं। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शन के विना केवल परोक्ष ज्ञान से किसी की परितृप्ति नहीं होती है, अतः अर्जुन भगवान् के विश्वरूप प्रत्यक्ष दर्शन करने की इच्छा से इस प्रकार कहने लगे कि मेरे मोह की निवृत्ति करने के उद्देश्य से तुम कृपा कर जो परमगोपनीय अध्यात्म नामक वाक्य कहे हो उन वचनों से पहले आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा हन्ता-हत इत्यादि भाव आरोप कर जो मोह उत्पन्न हुआ था वह विशेषभाव से नष्ट हो गया है।

(१) **प्रश्न**—अर्जुन ने भगवान् के वचनों को 'परम' क्यों कहा है ?

उत्तर—क्योंकि उन सब वचनों से जगत् के तुच्छत्व, मिथ्यात्व तथा परमात्मा ही एकमात्र परम सत्य वस्तु है इस प्रकार निर्णय किया। अतः 'परमम् वचनम्' इस पद का अर्थ है जिन वचनों से परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो।

(२) **प्रश्न**—गुह्य (गोपनीय) क्यों कहा है ?

उत्तर—अधिकारी न होने पर परमात्मविषयक वचन को कोई बुद्धि में धारण करने में समर्थ नहीं होता है। जिस प्रकार मलिन वस्त्र रंग नहीं पकड़ सकता उसी प्रकार जो विषय में आसक्त एवं आत्मा से विमुख है उसकी बुद्धि मलिन होने के कारण आत्मतत्त्व को अवधारण नहीं कर सकती है। इसलिये विषयासक्त मलिन बुद्धि वाले अनधिकारी व्यक्तियों से परमात्मविषयक बात गुप्त रखने के लिये शास्त्र का अनुशासन है। अतः 'गुह्य' शब्द का अर्थ है अनधिकारी पुरुष से गुप्त रखने योग्य।

(३) **प्रश्न**—भगवान् के वचन को 'अध्यात्म—संज्ञित' क्यों कहा है ?

उत्तर—जो वचन आत्मा का अधिकार करके वर्तमान रहता है उसी को अध्यात्म कहा जाता है अर्थात् अनात्म वस्तुओं से आत्मा को पृथक् रूप से जानने के

लिए जो वचन सहायक होता है उसे अध्यात्म कहते हैं। 'संज्ञितम्' शब्द का अर्थ है सम्यग् ज्ञायते (प्रकाशते) येन (तत् वचनम्) अर्थात् आत्मा का स्वरूप जिस वचन से सम्यक् प्रकार से प्रकाशित होता है उसे 'अध्यात्मसंज्ञित' वचन कहा जाता है।

(४) प्रश्न—इस प्रकार के वचन से अर्जुन का जो मोह नष्ट हो गया उस मोह का स्वरूप क्या है ? एवं उस मोह को अर्जुन ने 'अयम् मोहः' ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर—अनात्म वस्तु से आत्मा के स्वरूप के विवेक (पृथक्) करने की असमर्थता के कारण देह-इन्द्रिय आदि को ही आत्मा मानकर अज्ञानजनित भेद बुद्धि का उदय होता है एवं इससे 'मैं मेरा, तू तेरा' इस प्रकार की वृत्तियाँ दृढ़ होती हैं, वही **मोह**—है। अतः आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही मोह उत्पन्न होने के कारण आत्मज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है—दूसरा कोई उपाय नहीं है। अर्जुन युद्ध क्षेत्र में इस मोह के वशीभूत होकर ही स्वधर्मरूप युद्ध से विरत होकर दूसरे की भिक्षावृत्ति रूप धर्म का आश्रय कर जीविका—निर्वाह करने के लिए उद्यत हुआ था। इस प्रकार मोह के फलस्वरूप उनके चित्त तथा देह में भी नाना प्रकार के विकार तथा विक्षेप साक्षात् अनुभूत होने लगे अर्थात् इस मोह का स्वरूप तथा उसका कार्य अर्जुन को प्रत्यक्ष ही था। इसको सूचित करने के लिए 'अयम्' शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि 'अयम्' शब्द प्रत्यक्ष वस्तु को लक्ष्य करके ही प्रयोग होता है।

भगवान् के असीम अनुग्रह (कृपा) के बिना किसी जीव के मोह की निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार मोह को देखकर अर्जुन के समान कातर होकर जो व्यक्ति अपने हृदय में भगवान् को 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर उनके चरण कमलों में अपने को न्यौछावर कर देता है, उसका ही मोह भगवान् स्वयं अपने अमिट वचनों से दूर कर देते हैं।

[भगवान् ने सप्तम अध्याय से दसवें अध्याय तक 'तत्' पद का अर्थ (सगुण स्वरूप) निर्णय करने के लिए जो कुछ कहा है उनको अर्जुन ने जो ध्यान पूर्वक सुना है यह अर्जुन अब स्पष्टरूप से व्यक्त कर रहे हैं—]

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वय—हे कमलपत्राक्ष ! त्वत्तः भूतानां भवाप्ययौ विस्तरशः मया श्रुतौ, अव्ययम् माहात्म्यम् अपि श्रुतम् च ।

अनुवाद—हे पद्मपलाशलोचन ! मैंने तुमसे विस्तारपूर्वक भूतसमूह (जीवों) की उत्पत्ति और प्रलय तथा तुम्हारे अव्यय (अविनाशी—अक्षय) माहात्म्य भी सुना है ।

भाष्यदीपिका—**हे कमलपत्राक्ष**—कमल (पद्म) के पत्र के समान अक्षि अर्थात् दो आँखें जिनकी हैं उनको कमलपत्राक्ष या पद्म-पलाश लोचन कहा जाता है ! कमल का पत्र (पत्ता) बहुत कोमल होता है इसलिए 'कमलपत्राक्ष' शब्द भगवान् की कोमलता, (कृपालुता), भक्तवात्सल्य तथा उनके अतिशय सौन्दर्य को सूचित कर रहा है । कोमलहृदय भगवान् की असीम करुणा से ही अर्जुन ने मोह को नाश करने वाले इतने वचनों को सुना है । इसलिए अपनी कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए अर्जुन ने 'कमलपत्राक्ष' कहकर सम्बोधित किया है अथवा जिस प्रकार जल कमल के पत्ते को सिक्त (गीला) नहीं कर सकता है उसी प्रकार भगवान् सर्व वस्तु के नित्य द्रष्टा होने से भी कोई दृश्य वस्तु उनकी आँखों को सिक्त नहीं कर सकती है अर्थात् भगवान् नित्य साक्षी (द्रष्टा) तथा विज्ञाता होने पर भी नित्य स्थिर, सर्वप्रकार विकारों से रहित एवं वृद्धि तथा हानि से शून्य रहते हैं, यह सूचित करने के लिए अर्जुन ने 'कमलपत्राक्ष' शब्द से सम्बोधित किया । **त्वत्तः**—तुमसे अर्थात् तुम्हारे मुख से निःसृत (निकला हुआ) वाक्य से **भूतानाम् भवाप्ययौ**—भूतों के (स्थावर-जंगम सभी सृष्ट-पदार्थों के) भव (उत्पत्ति) भूत (पदार्थों) तुमसे प्रकट होते हैं एवं प्रलय काल में तुममें ही सकल भूतवर्ग प्रवेश करते हैं अतः वे सभी काल में तुममें ही स्थित रहते हैं इसे **विस्तरशः श्रुतौ**—विस्तार पूर्वक अर्थात् पुनः पुनः (श्रीधर) मैंने सुना है । केवल सृष्टि–स्थिति–प्रलय का विवरण ही मैंने नहीं सुना परन्तु **अव्ययम् माहात्म्यम् अपि श्रुतम् च**—तुम्हारा अव्यय (अक्षय—अविनाशी) माहात्म्य (निरतिशय ऐश्वर्य) भी मैंने विस्तार पूर्वक सुना है । महात्मा के भाव को [कहने का अभिप्राय यह है कि मैंने तुमसे भूतों की केवल उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं सुना बल्कि तुम महात्मा का भाव अर्थात् तुम्हारा माहात्म्य—(निरतिशय ऐश्वर्य यानि विश्व के रचयिता होने पर भी अविकारी रहना, शुभाशुभ कर्म कराने वाला होने पर भी विषमता से

रहित होना, बन्धन एवं मोक्षादि-तरह तरह के फल देने वाले होने पर भी असंग और उदासीन रहना तथा सर्वात्मत्व सोपाधिकत्व-निरुपाधिकत्व आदि अव्यय (अक्षय) माहात्म्य भी मैंने सुना है। यहाँ 'च' शब्द रहने से लिंगपरिणाम और वचन परिणाम पूर्वक 'श्रुतम्' पद की अनुवृत्ति हुई है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—भवाप्ययौ हि भूतानाम्—प्राणियों की उत्पत्ति (सृष्टि) और प्रलय (प्रलय—नाश) ये दोनों तुम्हारे द्वारा ही होते हैं यह मैंने तुम्हारे वचनों में बारंबार विस्तार पूर्वक सुना है अर्थात् तुमने 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव (और प्रलय हूँ) इत्यादि वचनों से तुमने यह बात स्पष्ट की। **कमलपत्राक्ष**—कमल पत्र के समान सुप्रसन्न और विशाल तुम्हारे नेत्र हैं। **माहात्म्यम् अपि च अव्ययम्**—तुम्हारे अव्यय (अक्षय अर्थात् अविनाशी) माहात्म्य को भी मैंने सुना है अर्थात् विश्वकी सृष्टि आदि के कर्त्ता, सब के नियन्ता, शुभाशुभ कर्म कराने वाले एवं बन्ध मोक्षादि विचित्र फल के दाता होने पर भी अविकारी, विषमतारहित एवं सब प्रकार से असंग व उदासीन रहना इत्यादिरूप अपरिमित महत्त्व भी मैंने तुम्हारे द्वारा कहे हुए बहुवचनों से सुना यथा—'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते' (गीता—७।२४) (मुझ अव्यक्तको व्यक्तिभावयुक्त हुआ मानते हैं), 'मया ततमिदं सर्वम्' (गीता—९।४) अर्थात् यह सब मुझसे व्याप्त है, 'मां तानि कर्माणि न च निबध्नन्ति', (गीता—९—९) अर्थात् मुझे वे कर्म नहीं बाँधते, 'समोऽहं सर्वभूतेषु' (गीता—९।२९) अर्थात् 'मैं सब प्राणियों में सम हूँ'। इस कारण तथा सब जीव आपके परतन्त्र होने के कारण मेरा यह मोह कि 'मैं कर्त्ता हूँ' 'भोक्ता हूँ' इत्यादि नष्ट हो गया, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार अर्जुन भगवत्कृत उपकार के अनुवाद के द्वारा भगवान् की स्तुति करके उनके यथार्थ स्वरूप के दर्शन की इच्छा से भगवान् के माहात्म्य का प्रस्ताव करते हैं—**कमलपत्राक्ष**—हे परमात्मन्! ['क' शब्द का अर्थ है ब्रह्मसुख (स्वरूपानन्द), उसका जो प्रकाश करता है वह कमल अर्थात् आत्मज्ञान है। 'पत्नात् त्रायते' (पतन से जो रक्षा करता है) वह पत्र है।

आत्मज्ञान जीव की पतन से रक्षा करता है इसलिए वह कमलपत्र है। उस आत्मज्ञान से जो अक्ष्यते (प्राप्यते) अर्थात् देखा जाता है (प्राप्त किया जाता है) उसे अर्थात् मोक्षरूप परमानन्दस्वरूप को कमलपत्राक्ष कहते हैं।]

भवाप्ययौ ··· विस्तरशो मया—जिस कारण से 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय हूँ—(गीता—७।६), 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य' (अपनी प्रकृति का अवलम्बन कर–गीता–९।८), 'अहं सर्वस्य प्रभवः' (मैं सबका प्रभव हूँ—गीता–१०।८), इस प्रकार तुमने कहा इससे ईश्वरस्वरूप तुमसे ही आकाशादि भूतों के तथा उनके सम्पूर्ण कार्यों के प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय को—इन दोनों को विस्तार से मैंने सुना। [हि=यस्मात् अर्थात् जिस कारण से] **त्वत्तः माहात्म्यम् अपि च अव्ययम्**—फिर 'मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूँ' (गीता ५।२९), 'सब भूतों का महेश्वर'–(गीता ५।२९), 'मुझसे सब प्रवृत्त होता है' (गीता–१०।८) इत्यादि से तुम्हारा माहात्म्य अर्थात् सार्वात्म्य (सब भूतों की तुम ही आत्मा हो यह (तत्त्व) भी सुना। [महान (सर्वव्यापक) आत्मा (अपना स्वरूप) जिसका है, वह महात्मा अर्थात् परमात्मा है। महात्मा के भावको अर्थात् सार्वात्म्य को (सर्वभूतों के आत्मभाव को) माहात्म्य कहते हैं।] 'च' कार से तुम्हारा सर्वेश्वरत्व भी विस्तारपूर्वक मैंने तुमसे सुना है, यह सूचित किया गया।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन कहता है—भूतों का भव (उत्पत्ति) तथा अप्यय (प्रलय) तुमसे ही होते हैं यह तुमसे (तुम्हारे मुख से) पुनः पुनः मैंने सुना है। [सृष्टि, स्थिति, प्रलय माया के ही कार्य हैं–वे सब कल्पित अर्थात् मिथ्या हैं (गीता–९।६-११, ५।१४) तथापि जिस शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा को अधिष्ठान कर सृष्टि आदि की प्रहेलिका (नाटक) चल रहा है, वह अव्यय अर्थात् अविनाशी है। सृष्टि आदि का तत्त्व श्रीकृष्णरूप परमपुरुष से (जो सर्वप्राणी की आत्मा है उनके पास पहुँचने से तथा उनकी कृपा से) ही जाना जाता है अन्यथा नहीं। इसलिए अर्जुनने कहा—त्वत्तः (तुम सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वभूतात्मा श्रीकृष्ण से)। भगवान् ने गीता के १०।४० श्लोक में कहा है कि मेरी विभूतियों का

अन्त नहीं है अतः उन विभूतियों का विस्तार मैं तुमको संक्षेप से कह रहा हूँ। अतः अर्जुनने यहाँ 'विस्तरशः' शब्द का "संक्षेप से पुनः पुनः" इस अर्थ में प्रयोग किया है—ऐसा समझना होगा। शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् के सान्निध्य से माया या कल्पनाशक्ति के द्वारा सृष्टि आदि कार्य प्रतीत हो रहा है। इसलिए भगवान् सृष्टि आदि के कर्त्ता होते हुए भी अकर्त्ता ही हैं (—गीता ४।१३, ५।१४), शुभ—अशुभ कर्म के करानेवाले (प्रेरक) होते हुए भी वैषम्यरहित हैं (गीता-१८।६१, ६।२९), विचित्र कर्मफलों के देनेवाले होते हुए भी असंग तथा उदासीन रहते हैं (गीता ६।८-६) वे सभी भगवान् का माहात्म्य (अनतिशय ऐश्वर्य) है। सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप (अतः अव्ययस्वरूप) भगवान् का इस प्रकार माहात्म्य भी अव्यय (अविनाशी) ही है। [श्लोक में 'च' शब्द से इस माहात्म्य के विषय में भी अर्जुन ने पुनः पुनः भगवान् के मुख से सुना है, यह सूचित किया गया है।] इस प्रकार माहात्म्यपूर्ण होते हुए सबके आत्मस्वरूप भगवान् किसी से लिप्त नहीं होते हैं यह भी अर्जुनने भगवान् की कृपा से जान लिया एवं इसे सूचित करने के लिए ही वे भगवान् को 'कमलपत्राक्ष' कहकर सम्बोधित किये। कमल के पत्ते के समान निर्लिप्त अक्षि (आँख अर्थात् दृष्टिशक्ति) जिसके हैं वह 'कमलपत्राक्ष' है। कमलपत्र को जिस प्रकार जल सिक्त (गीला) नहीं कर सकता भगवान् सब वस्तुओं के नित्य-साक्षी, नित्यद्रष्टा होते हुए भी किसी से लिप्त नहीं होते हैं। इस प्रकार आत्म-स्वरूप का ज्ञान ही कर्मबन्धन से मुक्त कर देता है (गीता ४।१४)। इस श्लोक में अर्जुन ने जो कुछ कहा, उससे वे विश्वरूपदर्शन के अधिकारी थे, यह स्पष्ट हो रहा है।

[भगवान् के मुख से अर्जुन ने जो उनके माहात्म्य सुने हैं उनमें उन्हें कहीं भी आशंका नहीं है तथापि प्रत्यक्ष दर्शन करके स्वयं कृतार्थ होने की अभिलाषा से भगवान् के ऐश्वररूप अर्थात् समग्रज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति इत्यादि से सम्पन्न अद्भूत रूपको देखने की इच्छा व्यक्त की—]।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अन्वय--हे परमेश्वर ! त्वम् यथा आत्मानम् आत्थ एतत् एवम्। हे पुरुषोत्तम ! तव ऐश्वरम् रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि।

अनुवाद—हे परमेश्वर ! तुम अपने स्वरूप के विषय में जैसा कहते हो वह बात वैसी ही है। तथापि हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे ईश्वरीय स्वरूप का दर्शन करना चाहता हूँ।

भाष्यदीपिका--**हे परमेश्वर ! त्वम् यथा आत्मानम् आत्थ एतत् एवम्**--तुम तो ईश्वर के भी ईश्वर हो क्योंकि जीव तथा जगत् जिस प्रकार न होते हुए भी तुम्हारी मायाशक्ति से तुमको आश्रयकर प्रतीत होते हैं उसीप्रकार जगत् के ईश्वर भी तुम्हारी माया से ही प्रतीत होता है। अपने मुख से भी तुमने कहा—"मत्तः परतरं नास्ति किञ्चिदस्ति धनञ्जय" (अर्थात् मेरे बिना और किसी द्वितीय वस्तु की पारमार्थिक सत्ता नहीं है)। तुम अद्वितीय नित्यशुद्धमुक्तस्वरूप में सदाही स्थित रहते हो, अतः तुम्हें किसी से भय नहीं है क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र आदिरूप ईश्वर के भी तुम ईश्वर हो। भय से ही लोग मिथ्या (असत्य) का आश्रय लेते हैं किन्तु तुम स्वयं तो अभय-स्वरूप हो अतः तुम अपने स्वरूप के विषय में जिस प्रकार कह रहे हो, वह वैसी ही बात है—दूसरी नहीं। तात्पर्य यह है कि तुम अपने सोपाधिक तथा निरुपाधिक रूपका जिस प्रकार से वर्णन किये हो उन वचनों में मुझे कहीं भी अविश्वास नहीं है। **हे पुरुषोत्तम ! तव ऐश्वरम् रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि**--यद्यपि ऐसी बात है तो भी कृतार्थ होने की अभिलाषा से मैं तुम्हारे ईश्वरीय (अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सम्पन्न अद्भूत) वैष्णव (सर्वव्यापी) रूप को देखना चाहता हूँ। तुम तो सर्वभूतों के अन्तर्यामी पुरुषोत्तम हो, अतः मुझे तुम्हारे वचन में अविश्वास नहीं है तथा तुम्हारे ईश्वरीय विश्वरूप के दर्शन की बड़ी इच्छा भी है—यह बात सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होने के कारण तुम जानते भी हो यह सूचित करने के लिए यहाँ 'पुरुषोत्तम' शब्द का प्रयोग किया गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर--एवम् एतत् यथा आत्थ इत्यादि--हे परमेश्वर ! "प्राणियों की उत्पत्ति और लय मुझसे होते हैं" (गीता—१०।२) यह बात जो मैंने सुनी तथा 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्' (गीता—९।४२) अर्थात् 'मैं इस

समस्त जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ' इत्यादि से तुम जिस प्रकार अपने स्वरूप का वर्णन कर रहे हो, यह सब ठीक ऐसे ही है। तात्पर्य यह है कि तुम्हारे वचनों में मेरा कोई अविश्वास नहीं है, तो भी हे पुरुषोत्तम! **ते ऐश्वरम् रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि**-- तुम्हारे ऐश्वर्ययुक्त अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सम्पन्न रूप को मैं कौतुहलवश देखना चाहता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**--क्योंकि तुम्हारे मुख से मैंने सुना है इसलिए वह सत्य ही है, ऐसा कहते हैं—

हे परमेश्वर ! सबसे अधिक महत्त्वविशिष्ट होने के कारण परम और सबके व्यापार का हेतु (प्रेरक) होने के कारण तुम परमेश्वर हो **त्वम् आत्मानम् यथा आत्थ**--सर्वज्ञस्वरूप तुमने आत्मा को (अपने स्वरूप को) जैसे कहा अर्थात् जिस-प्रकार से तुम स्वरूप में स्थित रहते हो—ऐसा कहा, वह ऐसा ही है। तुम सबके कारण (हेतु) हो, तुम्हीं सर्वव्यापी तथा सबके नियन्ता ईश्वर हो अतः तुम्हारा वचन अन्यथा नहीं हो सकता और उसमें परीक्षा भी नहीं करनी है तथापि तुम्हारे अनुग्रह के पात्र मेरी एक तृष्णा है। वह क्या है? अब कहते हैं—**हे पुरुषोत्तम ! ते ऐश्वरं रूपम् द्रष्टुम् इच्छामि**—व्याकृत और अव्यक्त दोनों पुरुषों की अपेक्षा अपनी महिमा से उत्तम होने के कारण तुम पुरुषोत्तम हो। मैं अपना जीवन सफल करने के लिए तुम्हारे ऐश्वर (समग्र ऐश्वर्य, ज्ञान, तेज और शक्ति से सम्पन्न सर्वात्मक) स्वरूप को (विश्वरूप को) देखने की इच्छा करता हूँ अर्थात् इस प्रकार मेरी इच्छा है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने ७।६ श्लोक में कहा 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (मैं समस्त जगत् की उत्पत्ति का हेतु हूँ एवं समस्त जगत् मुझमें ही लय होता है)। इससे भगवान् ने जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय कर्तारूप से अपना सोपाधिक (सगुण) स्वरूप का वर्णन किया। यही 'परमेश्वर' रूप है फिर 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (गीता १०।४२) अर्थात् मैं अपने एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर स्थित हूँ अर्थात् मेरे एक अंश में (पाद में) ही मेरी माया से रचित जगत् प्रतीत होता है और तीन पाद मेरा शुद्धचैतन्यस्वरूप अद्वितीय निराकार निर्गुण अव्यय (अविनाशी) स्वरूप में स्थित है। यही क्षर

(व्यक्त) से अतीत तथा अक्षर से (अव्यक्त अथवा समष्टि) उत्तम भगवान् का निरुपाधिक पुरुषोत्तम स्वरूप है (गीता १५।१८) अतीत अध्यायों में भगवान् ने पुनः पुनः कभी अपने सोपाधिक परमेश्वरस्वरूप तथा निरुपाधिक पुरुषोत्तम स्वरूप को व्यक्त किया और अर्जुन ने भी दोनों रूपों का तात्पर्य समझ लिया। इसलिए अर्जुनने 'परमेश्वर' तथा 'पुरुषोत्तम' शब्दों से भगवान् को सम्बोधित कर कहा– तुमने अपने सगुण तथा निर्गुण स्वरूप के सम्बन्ध में जो कुछ कहा वह यथार्थ है– उसमें मेरी कोई शंका नहीं है किन्तु माया के आश्रय होने के कारण तुम सर्वशक्तिमान् ईश्वर हो। समग्र ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सम्पन्न तुम्हारा जो रूप सर्वजगदात्मक है एवं भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों को व्याप्त कर स्थित है उस ऐश्वरीयरूप (सगुणरूप) को देखने के लिए मेरी तीव्र इच्छा हो रही है क्योंकि तुम्हारे यह समग्र सगुणरूप को न जानने पर तुम्हारी निर्गुण, अद्वितीय, सर्वगत अचल सत्ता में कोई पहुँच नहीं सकता। अतः जीवन भी कृतार्थ नहीं होता है।

[जो मेरा ऐश्वर रूप मनुष्य के चर्मचक्षु से देखने योग्य नहीं है उसे देखने की इच्छा तुम्हारी क्यों हो रही है ऐसी भगवान् की ओर से आशंका के उत्तर में अर्जुन कहते हैं—]।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

अन्वय—हे प्रभो! यदि तत्रूपम् मया द्रष्टुम् शक्यम् इति मन्यसे ततः हे योगेश्वर! त्वम् मे अव्ययम् आत्मानम् दर्शय।

अनुवाद—हे प्रभो! यदि तुम अपने उस रूप को मेरे द्वारा देखे जाने योग्य समझते हो तो हे योगेश्वर! मुझे अपना अविनाशी (नित्यसत्य) परमात्म-स्वरूप को दिखाओ।

भाष्यदीपिका—हे **प्रभो**! हे सबके स्वामी! [जो सृष्टि, स्थिति, संहार तथा उसमें प्रवेश एवं प्रशासन में पूर्ण समर्थ हैं उनको 'प्रभु' कहते हैं (मधुसूदन)।]

अतः भगवान् की किसी व्यापार में असमर्थता नहीं है—उनकी कृपा होनेपर ही अर्जुन की वासना की पूर्ति हो सकती है यह सूचित करने के लिए अर्जुनने 'प्रभो' कहकर सम्बोधित किया। यदि **तत् (रूपम्) मया द्रष्टुम् शक्यम् इति मन्यसे**—तुम्हारा वह ऐश्वरीयरूप मुझ अर्जुन द्वारा देखा जा सकता है—ऐसा तुम मानते हो (समझते हो) अथवा यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा हो तो **हे योगेश्वर**—अणिमादि समस्त सिद्धियों से सम्पन्न योगों के (योगियों के) भी तुम ईश्वर हो। इस श्लोक में 'योग' शब्द योगियों का वाचक है, अतः योगेश्वर का अर्थ योगियों का ईश्वर किया गया है [जब उक्त सिद्धियों वाले योगीलोग भी अलौकिक पदार्थों का दर्शन कराने में समर्थ हैं तब उनके भी ईश्वर तुम्हारे लिए तुम्हारा ही दिव्य (ऐश्वर) रूप दिखाना कठिन व्यापार हो सकता है ? इस अभिप्राय से अर्जुनने यहाँ भगवान् को 'योगेश्वर' कहकर सम्बोधित किया]।

त्वम् मे अव्ययम् आत्मानम् दर्शय—(मैं तुम्हारे उस रूप का दर्शन करने की उत्कट इच्छा रखता हूँ इसलिए) तुम मुझे अपनी उस अविनाशी आत्मा को (स्वरूप को) दिखाओ अर्थात् मेरे चाक्षुष ज्ञान का विषय बनाओ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अर्जुन कह रहे हैं कि मैं देखना चाहता हूँ इसी हेतु से तुमको वह रूप दिखा देना उचित है ऐसी बात नहीं है तो फिर क्या है ?—इसके उत्तर में कह रहे हैं—हे प्रभो ! हे योगेश्वर [योगीजन ही योग है उनके ईश्वर होने के कारण भगवान् योगेश्वर है।]

मन्यसे यदि तच्छक्यम् इत्यादि—वह रूप मुझ अर्जुन द्वारा देखा जा सकता है—यदि ऐसा तुम मानते हो तो वैसे (ऐश्वरीय) रूप सम्पन्न तुम्हारे अव्यय (नित्य अविनाशी) जो आत्मस्वरूप (अपना स्वरूप) है उसका मुझे दर्शन कराओ।

(२) शंकरानन्द—[उस भगवान् की अर्जुन प्रार्थना करते हैं **हे प्रभो**—सृष्टि, स्थिति, प्रलय तथा उनमें प्रवेश और नियमन करने में समर्थ होने से भगवान् प्रभु हैं।] हे सबके स्वामी ! यदि मया तत् (रूपम्) द्रष्टुम् शक्यम् **इति मन्यसे**—यदि मैं तुम्हारे उस (ईश्वरीय) स्वरूप को देख सकता हूँ—ऐसा तुम मानते (जानते)

हो अथवा इच्छा करते हो **ततः**—तो हे **योगेश्वर**—[ब्रह्म और आत्मा के एकत्व दर्शनरूप ज्ञानयोग के ईश्वर होने के कारण भगवान् योगेश्वर हैं] **तत् मे त्वम् अव्ययम् आत्मानम् दर्शय**—मुझे अपने अव्यय (अविनाशी) आत्मा (स्वरूप) को दिखलाओं [जो कुछ अव्यय (अक्षय) है वह भी भगवान् की उपाधि है इस कारण से अथवा अव्यय (अविनाशी) मोक्षरूप फल का हेतु होने से भगवान् अव्यय है । जिसकी उपासना से मुमुक्षु शुद्धात्मा होकर अव्यय मोक्षपद प्राप्त होता है तुम्हारे उस अव्यय स्वरूप को मुझे दिखलाओ—यही कहने का अभिप्राय है ।]

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लाक में अर्जुन ने भगवान् के ऐश्वरीय रूप (विश्वरूप) को देखने की इच्छा प्रकट की किन्तु अधिकार (योग्यता) प्राप्त न होने पर किसी को इस रूप के दर्शन करने का सौभाग्य नहीं होता है । इसलिए अर्जुन कहते हैं—हे प्रभो ! यदि उस विश्वरूप को दर्शन करने की योग्यता (अधिकार) मेरी है ऐसा तुम समझते हो अथवा मेरी योग्यता न रहने पर भी यदि तुम कृपाकर मुझको योग्य बनाकर दिव्यदृष्टिशक्ति प्रदान करने की इच्छा करते हो, तो तुम्हारा वह ऐश्वररूप विशिष्ट अव्यय (अक्षय-अविनाशी) आत्मा को (स्वरूप को) मुझे दिखा दो । भगवान् सबके प्रभु (स्वामी) हैं अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्त्ता तथा सबके अन्दर प्रवेश कर सबकी बुद्धि को अन्तर्यामीरूप से नियमन करते हैं । योग्यता न रहने पर भी उनके आश्रित अनन्य भक्तों को योग्यता स्वयं ही देते हैं—उनके योगक्षेम वहन करते हैं (गीता—९।२२), उनकी प्राप्ति का उपाय भक्तों के हृदय में स्थित होकर बतलाते हैं—ज्ञानदीप प्रज्वलित कर अज्ञानरूप अन्धकार नाश कर देते हैं (गीता १०।१०–११), सर्व पापों से मुक्त कर मोक्षरूप परम पद प्राप्त कराते हैं (गीता १८।६६) । किन्तु जो अहंकार का आश्रय लेकर अपने को अधिकारी (योग्य) बनाना चाहते हैं और अपनी बुद्धि से अपनी योग्यता निर्णय करते हैं वे भगवान् की उक्त प्रकार की कृपा से सदा ही वञ्चित रहते हैं । मन तथा बुद्धि को जो भगवान् में पूर्णतया अर्पण कर देते हैं (गीता–१८।६६) अर्थात् अपने को सम्पूर्णरूप से भगवान् के चरण कमलों में निछावर कर देते हैं, उनके हृदय में ही अधिष्ठित होकर प्रभु सब कुछ कर देते हैं । अर्जुन भी शरणागत होकर भगवान् की कृपा पर निर्भर रहकर ही विश्वरूप-

दर्शन करने की योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं, यह सूचित करने के लिए उन्हें 'प्रभु' कहकर सम्बोधित किया। भगवान् के साथ योग (एकत्व) प्राप्त न होने पर भगवान् के सगुण ऐश्वरीय रूप (विश्वरूप) अथवा निर्गुण शुद्धचैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। भगवान् की कृपा बिना उस प्रकार एकत्व का अनुभव संभव नहीं होता है। इसलिए भगवान् को योग (एकत्वानुभवरूप तत्त्वज्ञान) का ईश्वर (स्वामी) कहते हैं अथवा भगवान् के गुणातीत पारमार्थिक स्वरूप में विश्वरूप नहीं है—मायारूप योग (उपाय) का आश्रय कर ही विश्वरूप महानाटक आत्मारूप अधिष्ठान में प्रवाहरूप से चल रहा है। इसलिए ऐश्वरीय माया को कहते हैं 'योगमाया' और भगवान् को कहते हैं 'योगेश्वर' अथवा 'योग' शब्द का अर्थ है योगी (अणिमा लघिमा इत्यादि ऐश्वर्य विशिष्ट) पुरुष। भगवान् इन योगियों के अधीश्वर हैं क्योंकि सब प्रकार के योग (अणिमादि विभूतियाँ) भगवान् की सत्ता से सत्तावान् तथा उनके प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं। जब साधनसिद्ध योगी लोग बहुत से अलौकिक दृश्यों का दर्शन करा सकते हैं तब योगेश्वर भगवान् के अनुग्रह से विश्वरूप का दर्शन कर सकूंगा इस विषय में क्या संशय रह सकता !—इस प्रकार की भावना से अर्जुन ने 'योगेश्वर' शब्द से भगवान् को सम्बोधित किया।

[पूर्वश्लोक में अर्जुनने विश्वरूप दर्शन करने की उत्कट इच्छा प्रकट की। अर्जुन से प्रेरित होकर श्री भगवान् बोले—]

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

अन्वय—श्री भगवान् उवाच हे पार्थ! मे नानाविधानि नानावर्णाकृतीनि च शतशः अथ सहस्रशः दिव्यानि रूपाणि पश्य।

अनुवाद—श्री भगवान बोले हे अर्जुन! नानाप्रकार के अनेकों वर्ण और आकारों के मेरे सैकड़ों-हजारों दिव्यरूप देखो।

भाष्यदीपिका—श्री भगवानुवाच—श्री भगवान् बोले हे पार्थ ! हे अर्जुन! तुम मेरे परम भक्त पृथा के (कुन्ती के पुत्र हो) हो एवं तुमने स्वयं मेरा शिष्यत्व स्वीकार किया, अतः तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए मैं सदा ही प्रस्तुत हूँ—यह सूचित करने के लिए भक्तवत्सल भगवान् ने आदरपूर्वक अर्जुन को 'पार्थ' शब्द से सम्बोधित किया। [यहाँ क्रमशः चारों श्लोकों में 'पश्य' (देखो) इस क्रियापद की आवृत्ति हुई है। "मैं तुम्हें अत्यन्त अद्भूत रूप दिखाऊँगा, तुम सावधान हो जाओ' इस प्रकार अर्जुन को देखने में तत्पर करने के लिए 'पार्थ' शब्द से भगवान् ने सम्बोधित किया (मधुसूदन)।] **मे नानाविधानि नानावर्णाकृतीनि च शतशः अथ सहस्रशः दिव्यानि रूपाणि पश्य**—तुम मेरे सैकड़ों-हजारों अर्थात् अपरिमित (असंख्य) रूपों को देखो। [वे रूप कैसे हैं ?] वे नानाप्रकार के दिव्य [देवलोक में होनेवाले अर्थात् अप्राकृत (अलौकिक) तथा नानाप्रकार के वर्ण एवं आकृतिवाले हैं अर्थात् नील, पीत आदि नानाप्रकार के और अनेक आकारवाले (अनेक अवयवसंस्थानविशिष्ट) हैं—ऐसे रूपों को देखो।] श्री भगवान् ने अभीतक उनके दिव्यरूपों को अर्जुन को नहीं दिखलाया तथापि वे कह रहे हैं 'पश्य' (देखो)। इसका तात्पर्य यह है कि लोट्लकार से निष्पन्न हुआ 'पश्य' शब्द का यहाँ 'योग्यता' अर्थ में प्रयोग किया गया है अर्थात् भगवान् के इस प्रकार कहने का अभिप्राय है कि—हे पार्थ ! तुम उनसब रूपों के देखने के योग्य हो।

टिप्पणी। (१) **श्रीधर**—[अर्जुन की इसप्रकार प्रार्थना सुनकर अपने अत्यन्त अद्भूत रूप का दर्शन कराने की इच्छा कर 'सावधान हो जाओ' ऐसा कहने के उद्देश्य से 'पश्य' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा भगवान् अपनी ओर अर्जुनको उन्मुख करते हैं—] श्री भगवान् कहते हैं—**पश्य मे पार्थ इत्यादि**—[यहाँ 'विश्वरूप' एक होने पर भी उस रूप के अनेक प्रकार होने के कारण 'रूपाणि' इस बहुवचनान्त पदका प्रयोग है।] हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों-हजारों अर्थात् अपरिमित तथा अनेक प्रकार के दिव्य (अलौकिक) रूपों को देखो। वे रूप नानावर्ण (शुक्ल कृष्ण आदि नाना रंगविशिष्ट) तथा नाना आकृतिविशिष्ट (नाना अवयव संनिवेश विशेष से युक्त) हैं—ऐसे मेरे दिव्य (अद्भूत-अप्राकृत) रूपों का दर्शन करो।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार अर्जुन द्वारा प्रार्थित होकर श्री भगवान् बोले—**दिव्यानि नानाविधानि नानावर्णाकृतीनि शतशः अथ सहस्रशः मे रूपाणि पश्य**—[दिवा मायया जातानि इति दिव्यानि अर्थात् दिव् से (माया से) उत्पन्न हुए दिव्य नाना वर्णवाले (तथा नाना आकृति विशिष्ट) नाना प्रकार के बहुत से सैकड़ो-हजारों (अर्थात् असंख्य) मेरे रूपों को अभी देखो—दूसरे समय में नहीं। (शंका) 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं' 'दर्शय आत्मानम्' अर्थात् तुम्हारा रूप देखना चाहता हूँ तथा तुम्हारे स्वरूपको दिखलाओ—ऐसा कहकर अर्जुनने भगवान् के ऐश्वररूप को दिखलाने को कहा। अतः अपने वैष्णवरूप को न दिखलाकर 'पार्थ, मेरे नानाप्रकार के रूपों को देखो' इत्यादि से आदित्य आदि बहुत से रूपों का प्रदर्शन कराना भगवान् के लिए अयुक्त ही है, जिसप्रकार 'औषधि लाओ' ऐसा कहने के पश्चात् यदि कोई पर्वत ले आये तो वह अयुक्त (अनुचित) होता है। (उत्तर) नहीं, इसप्रकार शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि अव्यक्त से लेकर स्तम्ब तक स्थूल सूक्ष्म कारण आदि प्रपञ्चरूप, समष्टि-व्यष्टिरूप तथा सर्वरूप अर्थात् श्रुति से प्रसिद्ध प्रकृत और प्राकृत सब रूप ईश्वर का (कारण ब्रह्म का) ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोते वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा' (जिसके अग्नि मस्तक, चन्द्र और सूर्य नेत्र, दिशाएँ श्रोत्र, वाणी का विस्तार वेद, वायु प्राण, हृदय विश्व तथा पैर पृथिवी है वही सब भूतों की अन्तरात्मा है)। श्रुति में और भी कहा है—'सहस्र-शीर्षं देवम्' (हजार सिरवाले देव को,) ऐसे ही भगवान् ने भी अपने मुख से बहुत बार कहा—'बहुधा विश्वतोमुखम्' (गीता–९।१५) अर्थात् नानाप्रकार से मुझ विश्वतोमुख को देखलो। अतः सर्वात्मक, सर्वकारण तथा सर्वोत्तम ऐश्वररूप जो है उसीको अर्जुन देखना चाहता है एवं भगवान् ने भी उसी को ही दिखलाया—केवल शंखचक्र आदि से चिह्नित रूप (जिससे अर्जुन पहले ही परिचित था वह) नहीं दिखलाया क्योंकि वह भी प्राकृत रूप होने के कारण उसका भी सर्वात्मक ऐश्वर रूप में अन्तर्भाव है। इसलिए यहाँ अनुपयुक्त कुछ भी नहीं है।

(३) **नारायणी टीका**—७ वें श्लोक की टीका द्रष्टव्य।

['पश्य' अर्थात् मेरे दिव्यरूपों को देखो ऐसा कहकर अब दो श्लोकों में भगवान् जिन अलौकिक रूपों को बाद में दिखलायेंगे उनका ही लेशतः (संक्षेप से) वर्णन किये हैं—]

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

अन्वय—हे भारत ! आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ तथा मरुतः पश्य । बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य ।

अनुवाद—हे भारत ! (मेरे विश्वरूप में) इन द्वादश सूर्य, अष्ट वसु, एकादश रुद्र, अश्विनी कुमार द्वय और मरुद्‌गण को देखो । तथा और भी जिनको पहले नहीं देखा ऐसे बहुत से आश्चर्य दृश्यों को देखो ।

भाष्यदीपिका—हे भारत—हे अर्जुन ! [पवित्र भारतवंश में तुम्हारा जन्म हुआ और स्वयं भी तुम मेरे शरणागत अनन्य भक्त हो । अतः मेरे दिव्यस्वरूप का दर्शन करने में तुम्हारी पूर्ण योग्यता है यह सूचित करने के लिए भगवान् ने 'भारत' शब्द से सम्बोधित किया ।] **आदित्यान्**—द्वादश आदित्यों को **वसून्**—आठ वसुओं को **रुद्रान्**—ग्यारह रुद्रों को **अश्विनौ**—दो अश्विनी कुमारों को **मरुतः**—उन्चास मरुद्गण नाम से प्रसिद्ध देवताओं को **तथा**—दूसरे देवताओं को भी **पश्य**—देखो । **बहूनि अदृष्टपूर्वाणि आश्चर्याणि पश्य**—और भी इस मनुष्य लोक में जिन्हें तुम अथवा अन्य किसी ने भी कभी नहीं देखा । [यह श्लोक पूर्वश्लोक का ही विस्तार है । यहाँ 'बहूनि' और 'आदित्यान्' इत्यादि पद (पाँचवें श्लोक के) 'शतशोऽथ सहस्रशः' और 'नानाविधानि' इन पदों का विवरण है । इस प्रकार 'अदृष्टपूर्वाणि' यह पद 'दिव्यानि' का और 'आश्चर्याणि' यह पद 'नानावर्णाकृतीनि च' का स्पष्टीकरण है-ऐसा समझना चाहिए (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्व श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को नानाविध दिव्यरूपों को देखने को कहा उन्हीं रूपों का फिर वर्णन करते हैं—**पश्य आदित्यान् वसून् इत्यादि**—हे भारत ! मेरे देह में तुम आदित्य आदि देवों को (वसुओं को

रुद्रों को, दोनों अश्विनी कुमारों को) और उन्चास मरुत् नामक देवविशेषों को देखो और तुमने अथवा अन्य किसी ने जिनको पहले नहीं देखा था ऐसे आश्चर्यजनक (अत्यन्त अद्भूत) रूपों को भी देखो ।

(२) **शंकरानन्द—अदृष्टपूर्वाणि**—जो पहले किसी ने न देखे हों ऐसे **बहूनि**—असंख्य **आश्चर्याणि**—अद्भूत रूपों को देखो (अन्य सब स्पष्ट है) ।

(३) **नारायणी टीका**—अभी तक भगवान् अर्जुन के समान विश्वरूप से प्रकट नहीं हुए—केवल उन्होंने अर्जुन को सतर्क तथा सन्मुख कराने के लिए कहा है कि मेरे (सैकड़ों-हजारों) असंख्य एवं नानाविध (अनेक प्रकार के) शुक्लकृष्णादि नानावर्णविशिष्ट तथा नाना आकृतिविशिष्ट दिव्य (अलौकिक) रूपों को देखो (श्लोक ५) । छठवें श्लोक में उन रूपों का (जिनको भगवान् प्रत्यक्षभाव से अर्जुन को दिखलायेंगे उनका) संक्षेप में वर्णन करते हैं । ५ वें श्लोक में कहा—नानाविधानि शतशः अथ सहस्रशः (अर्थात् नाना प्रकार के) अपरिमित (असंख्य) रूपों को देखो और छठवें श्लोक में उसका ही विस्तार कह रहे हैं—बहु (अनेक) आदित्य आदि देवों को, वसुओं को, रुद्रों को, दोनों अश्विनीकुमारों को और उन्चास मरुद्गणों को देखो । यह दृश्य न तो तुमने कभी देखा है और न अन्य किसी ने । इसलिए जो दृश्य मैं तुम्हें दिखलाने के लिए उद्यत हूँ वे सब अदृष्टपूर्व हैं । अधिकन्तु वे सब आश्चर्य अर्थात् अत्यन्त अद्भूत भी हैं । ५ वें श्लोक में जिनको दिव्य (अलौकिक) कहा है उनको ही ६ वें श्लोक में 'अदृष्टपूर्व' कहा है और ५ वें श्लोक में जिनको 'नानावर्ण-आकृतीनि' कहा है उनको ६ वें श्लोक में 'आश्चर्याणि' पद से अभिहित किया गया है ।

[केवल इतना ही नहीं अर्थात् केवल आदित्य वसु इत्यादि को ही नहीं अपितु सारे जगत् को तुम मेरे शरीर में स्थित देखलो ऐसा अब कहते हैं—]

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

अन्वय—हे गुडाकेश ! अद्य इह मम देहे एकस्थम् कृत्स्नम् सचराचरम् जगत् पश्य, यच्च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि तदपि पश्य ।

अनुवाद—हे गुडाकेश (जितनिद्र अर्जुन) आज (अब) यहाँ मेरे इस शरीर में एक ही स्थान में स्थित (एकत्र स्थित) सम्पूर्ण चराचर जगत् को देख लो। और भी जो कुछ जयपराजय आदि दृश्य देखना चाहते हो वह सभी देख लो।

भाष्यदीपिका—हे **गुडाकेश**—हे जितनिद्र अर्जुन! [निद्रा तमोगुण का लक्षण है। जो तमोगुण से मुक्त नहीं है अर्थात् जो निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि के वशीभूत है उसमें विश्वरूपदर्शन की योग्यता नहीं रहती है। इसलिए भगवान् 'गुडाकेश' शब्द से अर्जुन को सम्बोधित कर, अर्जुन की भगवान् के दिव्यरूप दर्शन करने की योग्यता है, यह सूचित कर रहे हैं।] अद्य इदानीम् (अब) **इह मम देहे**—मेरे इस शरीर में **एकस्थम्**—एक ही स्थान में स्थित अर्थात् मेरे शरीररूप एक ही स्थान को आश्रय कर अवयवरूप से स्थित **कृत्स्नम् सचराचरम् जगत्**—चराचर के सहित (स्थावर-जंगम सहित) सारे (समग्र) जगत् को [जिसे जहाँ तहाँ घूमकर सहस्रकोटि वर्षों में भी नहीं देखा जा सकता उस समस्त जगत् को (मधुसूदन)] **पश्य**—देख लो। **यत् च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि**—इसके सिवा और भी जो कुछ जय पराजय आदि दृश्य जिनके लिए तुम **'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'**—(हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे) इस प्रकार की शंका कर रहे थे वह सब या जो कुछ देखना चाहते हो वह भी (अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए) देख लो।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इहैकस्थम् जगत् इत्यादि—यहाँ-तहाँ भ्रमण करते हुए (भटकते हुए) करोड़ों वर्षों में भी जिसका देखा जाना सम्भव नहीं है, उस चराचर (स्थावर-जंगम) के सहित सारे जगत् को भी आज (अभी) इस मेरे शरीर में अवयवरूप से एकत्र स्थित देख लो। **यत् च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि**—इसके अतिरिक्त और भी अर्थात् जगत् का आश्रय कौन है? जगत् के कारण का स्वरूप क्या है? जगत् की विशेष-विशेष अवस्था क्या है? जय पराजय आदि किस पक्ष में हैं? इत्यादि जो कुछ भी देखना चाहते हो, उस सबको देख लो।

(२) शंकरानन्द—आदित्य, वसु आदि को कहाँ देखना चाहिए, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—गुडाकेश! हे अर्जुन [गुडा (वर्तुलाकार) आ (सब

ओर से) केश (जिसका केश है)] **इह एकस्थम् कृत्स्नम् सचराचरम् जगत् अद्य पश्य**—तुम सचराचर (स्थावर तथा जंगम के सहित) एकत्र ही स्थित सम्पूर्ण जगत् को यहाँ (इस मेरी विश्वात्मक देह में) आज (अभी) देखो। **यत् च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि**—और अन्य भी अर्थात् दूसरों की जय-पराजय या विनाश भी जो देखना चाहते हो, उसे भी मुझमें ही देखो—यह कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् में एक अनिवर्चनीया अहैतुकी (स्वतः सिद्ध) कल्पनाशक्ति है उसे माया कहते हैं। इस माया से कल्प के अन्ततक सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि जितने कार्य सम्पन्न होंगे वे सभी चलचित्र के Reel के समान भगवान् में एकत्र (संगृहीत) रहते हैं। श्लोक में 'एकस्थ' शब्द का यही तात्पर्य है। भगवान् में अहंकार को (जीवसत्ता को) सम्पूर्णरूप से समर्पण करके शरणागत न होने पर अर्थात् परमात्मरूप भगवान् में स्थित न होने पर भगवान् के विश्वनाटक के इस Reel को कोई नहीं देख सकता। अर्जुन ने भगवान् की वाणी सुनते सुनते भगवान् की इच्छा में अपनी इच्छा को मिला दिया (गीता ११।४)। इसप्रकार की अवस्था में ही अतिचेतन मनके स्तर में (Supramental stage में) पहुँचकर जीव को अलौकिक (दिव्य) विश्वरूपदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है। इसप्रकार का अवसर अतिदुर्लभ है अर्थात् ऐसा समय मिलना अति कठिन है। इसलिए भगवान् ने कहा—अद्य अर्थात् अभी (इस शुभ अवसर पर)। भगवान् स्वयं कालातीत हैं क्योंकि भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों काल कल्पित (मायिक) ही हैं। अतः नित्य द्रष्टा (विज्ञाता) स्वरूप भगवान् में स्थित होकर अतिचेतन मन के द्वारा जो कुछ हो चुका है, जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होने वाला है उनको देखना कोई असम्भव व्यापार नहीं है क्योंकि वे सभी भगवान् की समष्टि कल्पना में (Reel में) एक साथ संगृहीत हैं। अतः भगवान् कह रहे हैं—भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल की समस्त घटनाएँ तुमको दिखाता हूँ जो कोटि-कोटि जन्मों में जीव बुद्धि से (देहादि में आत्म-बुद्धि लेकर) भ्रमण करते हुए भी तुम या और अन्य कोई नहीं देख सकता। यहाँ (इस मेरे विश्वात्मक शरीर में) एकत्र स्थित (मेरे शरीर के अवयवरूप से स्थित) सचराचर (स्थावरजंगमसहित) कृत्स्न (समस्त) जगत् को देखो और इस जगत् का

रहस्य क्या है ? जगत् का उपादान क्या है ? इसका परिवर्तन कैसा होता है ? कुरुक्षेत्र में जय-पराजय किसको किस प्रकार से होगी ? जो तुम्हारी इच्छा हो, उन सबको देख लो।

[४ थें श्लोक में अर्जुन ने जो कहा कि 'यदि तुम उसे मेरे द्वारा देखे जाने योग्य समझो' इसके उत्तर में भगवान् अब उनका ऐश्वररूप देखने के लिए जो विशेषता के लिए आवश्यक है वह बताते हैं—]

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्वय—अनेन स्वचक्षुषा एव माम् तु द्रष्टुम् न शक्यसे—ते दिव्यम् चक्षुः ददामि। मे ऐश्वरम् योगम् पश्य।

अनुवाद—किन्तु तुम अपने इन प्राकृत नेत्रों से मुझे देख नहीं सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य नेत्र (ज्ञाननेत्र) देता हूँ, उनसे मेरा ईश्वरीय योग (अलौकिक अघटन घटन सामर्थ्य) को देखो।

भाष्यदीपिका—**अनेन स्वचक्षुषा एव**—(हे अर्जुन) अपने इन प्राकृत नेत्रों से (चर्मचक्षु द्वारा) ही **माम् तु द्रष्टुम् न शक्यसे**—मुझ विश्वरूपधारी परमेश्वर को तुम नहीं देख सकोगे। **ते दिव्यम् चक्षुः ददामि**—जिन दिव्यनेत्रों द्वारा तुम मुझे (मेरे अलौकिक विश्वरूप को) देख सकोगे, वे दिव्य चक्षु (ज्ञानचक्षु) तुमको मैं देता हूँ। उनके द्वारा **मे ऐश्वरम् योगम् पश्य**—मुझ ईश्वर के योग को (अतिशय योगशक्ति को) देख लो। [मुझ ईश्वर का असाधारण योग (अघटन-घटनासामर्थ्य की अतिशयता) को देखो (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अर्जुन ने जो यह कहा था कि 'यदि मेरे द्वारा देखा जा सकता है-ऐसा तुम मानते हो' उस विषय में श्रीभगवान् कहते हैं—**न तु माम् इत्यादि**—अपने इन्हीं चर्मचक्षुद्वारा जो कि तुम मुझे देख नहीं सकोगे (देखने में समर्थ नहीं होओगे)। **दिव्यम् ददामि इत्यादि**—(अतः) मैं तुमको दिव्य (अलौकक ज्ञानरूप) चक्षु देता हूँ, जिसके द्वारा तुम मेरे ऐश्वरीय योग को (अघटित को घटित करने की सामर्थ्यरूप असाधारण शक्ति को) देखो।

(२) **शंकरानन्द**—जैसे तुमने पूर्व में इन्द्र आदि को देखा था, वैसे **अनेनैव स्वचक्षुषा न तु माम् द्रष्टुम् शक्यसे**—इस चर्ममय चक्षुसे तुम मुझको (अप्राकृत अप्रमेय तेजःपुञ्जस्वरूप विश्वरूपधारण करनेवाले मुझको) देख नहीं सकते। तब मेरी क्या गति होगी, इस प्रकार प्रश्न होने पर कहते हैं—**दिव्यम् ददामि ते चक्षुः**—तुम्हें मैं मेरे दर्शन के योग्य दिव्य (तेजोमय) चक्षु देता हूँ जिस दिव्य चक्षु के द्वारा तुम मुझे देख सकोगे, उस चक्षु से **पश्य मे ऐश्वरम् योगम्**—ईश्वरत्व के कारण योग को अर्थात् योगमाया से विजृम्भित मेरे ईश्वरस्वरूप को देखो।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक की टीका में कहा गया है कि जीव जब शास्त्रविहित साधन के बल से चित्तशुद्धि प्राप्तकर अनन्त भगवान् की समष्टि इच्छा में (Cosmic Will) में अपनी व्यष्टि इच्छा को (Individual Will को) समर्पित कर देता है तब ही भगवान् की कृपा से दिव्यदृष्टि लाभ करता है एवं विश्वरूप का दर्शन कर सगुण ब्रह्म का स्वरूप जानने में समर्थ होता है। इसके पश्चात् सर्ववृत्ति के निरोध द्वारा निर्विकल्प समाधि के द्वारा शुद्धचैतन्यस्वरूप सर्वात्मा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करके कृतकृत्य होता है। साधन के मानसिक स्तर के अनुसार भगवान् की चार प्रकार की अभिव्यक्ति (Manifestation) होती है—(१) साधारण नामरूप तथा क्रियात्मक जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता रूप में अभिव्यक्त भगवान् होते हुये भी इसमें नानात्व का प्राधान्य रहता है। (२) इसके पश्चात् दृश्यमान जगत् में नानात्व प्रतीत होने पर भी वे सब एक ही सूत्र में माला के समान धृत हैं इस प्रकार अनुभव होता है (सूत्रे मणिगणा इव-(गीता ७।७)। वह सूत्र भगवान् ही हैं अर्थात् भगवान् की इच्छा या कल्पनाशक्ति से ही सब विधृत हैं। (३) स्वर्णरचित अलंकार में जिस प्रकार अणु परमाणु को व्याप्त कर एकमात्र स्वर्ण ही विद्यमान रहता है उसी प्रकार भगवान् ही सब में व्याप्त है—उनसे अतिरिक्त और कुछ नहीं है (God is all and all is God) सविकल्प या भावसमाधि में इस प्रकार की साक्षात् अनुभूति होती है। (४) उसके पश्चात् निर्विकल्प समाधि में 'सर्व' की प्रतीति लुप्त हो जाती है—रहता है अपनी आत्मा से अभिन्न एक अद्वितीय सत्तामात्र का अनुभव। यही जीव की चरम गति है क्योंकि वह सत्तामात्र परमशान्ति या परमानन्दस्वरूप है। चर्मचक्षु द्वारा इन चारों

अवस्था का दर्शन नहीं किया जा सकता है। इसलिए अर्जुन के जीवन के सारथी तथा सखा एवं गुरु श्रीभगवान् अर्जुन की शरणागति से प्रसन्न होकर उनको दिव्यचक्षु (अलौकिक दृष्टिशक्ति या प्रकाश) देकर कहते हैं—**'पश्य मे योगम् ऐश्वरम्'**—मेरे ऐश्वरीय योग को देखो) अर्थात् मेरे योग से [मेरी अघटनघटन पटीयसी स्वतः-सिद्ध कल्पनाशक्ति, जिसे योगमाया कहते हैं एवं जो मेरा ईश्वरत्व सिद्ध करती है क्योंकि मायायुक्त शुद्धचैतन्य ही ईश्वर हैं] उसे देखो। इस ऐश्वरीय योग को देखने का फल क्या है—फल है परमात्मा के साथ योग अर्थात् शुद्ध परमात्मा के सहित जीवात्मा का एकत्वानुभव क्योंकि ऐश्वरीय योग को (अर्थात् माया के कार्य को) जान लेने से मायावी परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान का भी स्वाभाविक ही (अर्थात् स्वतः ही) उदय होता है।

[भगवान् ने अर्जुन को दिव्यरूप दिखाया एवं अर्जुनने उसे देखकर विस्मय से अभिभूत होकर भगवान् को जो कुछ बताया, उस वृत्तान्त को 'एवमुक्त्वा' इत्यादि छः श्लोकों से धृतराष्ट्र को संजय कहते हैं—]

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अन्वय—संजय उवाच—हे राजन्! महायोगेश्वरः हरिः एवम् उक्त्वा ततः पार्थाय परमम् ऐश्वरम् रूपम् दर्शयामास।

अनुवाद—संजय ने कहा–हे राजन्! तब महायोगेश्वर (महान् तथा योगियों के ईश्वर) हरिने ऐसा कहकर अर्जुनको अपना परम ऐश्वरीय रूप (दिव्यरूप) दिखाया।

भाष्यदीपिका—**संजय उवाच**-संजय ने कहा–हे **राजन्**—हे धृतराष्ट्र! [धृतराष्ट्रको सावधानता से सुनने के लिये इस प्रकार सम्बोधन किया।] **महायोगेश्वरः हरिः**—जो सबसे उत्कृष्ट हैं और योगिओं के ईश्वर (प्रभु) भी है वे महायोगेश्वर

(नारायण) हैं। 'हरत्यविद्यां सकार्यमिति हरिः' अर्थात् जो अविद्याको उसके कार्य के सहित समूल नाश कर भक्तों के सर्वप्रकार क्लेश का अपहरण करते हैं, वे हरि हैं अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप पर ब्रह्म (नारायण) हैं। उन्हें **एवम् उक्त्वा**—ऐसा कहकर अर्थात् इस नेत्र से तो तुम मुझे देख नहीं सकते हो, इसलिये मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ' ऐसा कहकर **ततः**–दिव्य चक्षु प्रदान करने के अनन्तर (पश्चात्) **पार्थाय**—भगवान् के एकान्त भक्त तथा पृथा के पुत्र अर्जुन को **परमम् रूपम्**—जो साधारण चक्षु से दीखने योग्य नहीं हैं ऐसा अपना परमदिव्य ऐश्वरीय रूप अर्थात् विश्वरूप **दर्शयामास**—दिखाया।

टिप्पणी (१) श्रीधर—संजय बोला—हे राजन् धृतराष्ट्र ! इस प्रकार कहकर उसके बाद उन महान् योगेश्वर श्री हरिने अर्जुनको अपना परम ऐश्वरीय (ऐश्वर्ययुक्त) रूप दिखाया।

(२) शंकरानन्द—महायोगेश्वरः—महान् योगेश्वर (योग अर्थात् कार्यसहित योगमाया–उस योगमाया की प्रवृत्तिका कारण होने से जो ईश्वर है वह) **हरिः**–अपना साक्षात्कार करनेवाले पुरुषों की कार्यसहित अविद्या को जो हरता है, वह हरि है अर्थात् परमात्मा। उस हरिने **परमम् ऐश्वरम् रूपम् दर्शयामास**—अपना ऐश्वरीय परम (निरतिशय) रूप (स्वरूप) दिखलाया।

(३) नारायणी टीका—तुम मुझे इस नेत्र से (चर्मचक्षु से) देख नहीं सकते हो, इसलिए मैं तुम्हें दिव्य नेत्र [अन्तःस्थ प्रकाशरूप (ज्ञानरूप) नेत्र] देता हूँ, ऐसा कहकर (एवमुक्त्वा) दिव्य चक्षु प्रदान करने के पश्चात् (ततः) हरिने (भक्तों के सर्वदुःख का हरणकर जो परमशान्तिरूप मोक्षपद देते हैं उस हरिने) पृथापुत्र अर्जुनको ऐश्वर (ईश्वर सम्बन्धीय अर्थात् ईश्वर के स्वतःसिद्ध) परम (श्रेष्ठ) रूप (अर्थात् अनन्तशक्ति सम्पन्न परम ईश्वर का विश्वरूप) दिखाया। हरि में क्या विशेषता है ? जिस कारण वे ही दिखा सके अर्जुन अपनी शक्ति से नहीं देख सका। जीव माया से सृष्ट होने के कारण माया के वशीभूत रहता है अतः समष्टि मायाशक्ति जिसमें भूत, भविष्यत् वर्तमान के सारे बीज आहित (स्थापित) रहते हैं उनको जानना सम्भव नहीं। माया भगवान् को ही आश्रय (अधिष्ठान)

करके अपनी शक्ति का विशेष-विशेष स्फुरण कर रही है—उनमें से एक स्फुरण (प्रकाश) जीव भी है। माया सदा ही भगवान् के साथ युक्त रहती है, इसलिए इसको योग या योगमाया कहते हैं और भगवान् 'उस' माया का अधीश्वर होने के कारण उनको योगेश्वर कहते हैं क्योंकि भगवान् नित्य साक्षी (शाश्वत द्रष्टा) होने के कारण माया का कोई कार्य इनको अविदित नहीं रहता है। जीव की दृष्टि जब तक बाह्य, अनित्य, विकारी प्रपञ्च में मग्न रहती है तब तक दुःखमय संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है और जब प्रपञ्च से विमुख होकर योगेश्वर परमात्मा के शरणागत होकर जीवात्मा को परमात्मा के साथ एक कर देता है तब वही योगेश्वर परमात्मा 'हरि' (सर्वदुःख हरण करनेवाला मोक्षप्रद नारायण) एकान्त (अनन्य) भक्तों की यदि सगुण ईश्वररूप को देखने की सूक्ष्म वासना रहे तो अपने विश्वरूप को दिखा देते हैं। वह रूप 'परम' है क्योंकि उस रूप को देखने के पश्चात् और किसी रूप के दर्शन की आवश्यकता नहीं रहती है। फिर वह निर्गुण, निराकार अनन्त सत्ता में देखने वाले को पहुँचा देता है इसलिए भी उसरूप को 'परम' कहते हैं। एकमात्र योगेश्वर ही उस परम ऐश्वरीय रूप को (विश्वरूप को) दिखा सकते हैं—अन्य कोई नहीं, 'दर्शयामास' शब्द का तात्पर्य है। संजय ने धृतराष्ट्र को 'राजन्' शब्द से सम्बोधित किया। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि—'हे धृतराष्ट्र! तुम तो केवल पार्थिव राज्य के ही अधिकारी हो एवं उसे भी अन्ध होने के कारण देख नहीं पाते हो। यथार्थ राजा तो वही है जिसके हृदय में योगेश्वर हरि प्रकट होते हैं एवं जिसको विश्वरूप दर्शन कराकर अन्त में अपने साथ एकत्व अनुभव कराकर स्वराज्य (मोक्षपद) प्रदान करते हैं।

[जो परम ऐश्वर रूप (सर्वोत्कृष्ट विश्वरूप) भगवान् ने अर्जुन को दिखाया उसी रूप का विशेष रूप से वर्णन करते हैं—]

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भूतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अन्वय—अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भूतदर्शनम् अनेकदिव्याभरणम् दिव्यानेकोद्यतायुधम् दिव्यमाल्याम्बरधरम् दिव्यगन्धानुलेपनम् सर्वाश्चर्यमयम् देवम् अनन्तम् विश्वतोमुखम् ।

अनुवाद—(वह ऐश्वरीय रूप) अनेकों मुख और नेत्रों वाला अनेकों अद्भूत दृश्यों वाला, अनेकों दिव्य आभूषणों वाला, उन्नत (उठाये) हुए अनेकों दिव्य शस्त्रों वाला, दिव्यमाला और वस्त्र धारण किये, दिव्य गन्धवाले अनुलेपन से युक्त, सम्पूर्ण आश्चर्यों से पूर्ण, दीप्तिमय, अनन्त (असीम) एवं विश्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) था ऐसा रूप भगवान ने अर्जुन को दिखाया ।

भाष्यदीपिका—**अनेकवक्त्रनयनम्**—जिस रूप में अनेक मुख और नेत्र हैं **अनेकाद्भूतदर्शनम्**—तथा जो अनेक अद्भूत दृश्यों वाला है अर्थात् जिसमें अद्भूत (आश्चर्य उत्पन्न करने वाले) अनेक अलौकिक दृश्य हैं **अनेकदिव्याभरणम्**—जो अनेक दिव्य भूषणों से युक्त है अर्थात् जिसमें अनेक अलौकिक आभूषण हैं **दिव्यानेकोद्यतायुधम्**—जिस रूप के हाथों में अनेक दिव्य शस्त्र उठाये हुए हैं (**दर्शयामास**)—ऐसा रूप भगवान ने अर्जुन को दिखलाया । [पूर्वश्लोक के 'दर्शयामास' शब्द से इस श्लोक का सम्बन्ध है ।] **दिव्यमाल्याम्बरधरम्**—जिस ईश्वर ने दिव्य पुष्पमालाओं और वस्त्रों को धारण कर रक्खा है **दिव्यगन्धानुलेपनम्**—दिव्य (अलौकिक) गन्ध से जिसके देह अनुलिप्त या **सर्वाश्चर्यमयम्**—जो समस्त आश्चर्य मय दृश्यों से युक्त है **देवम् अनन्तम्**—जो स्वयंप्रकाश तथा अनन्त (असीम है) एवं **विश्वतोमुखम्**—जो सर्व भूतों की आत्मा होने के कारण सब ओर मुख वाला है-**दर्शयामास**—ऐसा दिव्य विराट् रूप भगवान ने अर्जुन को दिखलाया [इस प्रकार पूर्व श्लोक से अन्वय करना पड़ेगा अथवा अर्जुन ने ऐसा रूप 'देखा' इस प्रकार अध्याहार कर लेना चाहिए ।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तथा] **अनेकवक्त्रनयनम् इत्यादि (१०-११ श्लोक)**—जो अनेक मुख और नेत्रवाला था तथा जिसमें अनेक आश्चर्यमय अद्भूत दृश्यों का दर्शन होता था, जिसमें अनेक दिव्य आभूषण थे एवं जो रूप के हाथों में उठाये हुए अनेक दिव्य अस्त्र हथियार थे, जो दिव्य माला और वस्त्र धारण किये हुए

था जिस वस्तु का दिव्य गन्ध हो ऐसी वस्तु का अनुलेपन जिसमें लगा हुआ था, (जो सर्वाश्चर्यमय था अर्थात् जो अनेक आश्चर्य वस्तुओं से परिपूर्ण था), जो देव अर्थात् दिव्य द्युति से दीप्तिमान था, और अनन्त (अपरिच्छिन्न) था एवं जिसमें सब ओर मुख थे (ऐसा रूप भगवान ने अर्जुन को दिखाया) ।

(२) **शंकरानन्द — अनेकाद्भूतदर्शनम् —** अनेक—(अपरिमित) अद्भूत (आश्चर्यकर) दर्शनों से युक्त (ऊपर-नीचे और तिरछे देख रहीं जिसकी दृष्टियाँ विकृत, सौम्य, साधारण, भयंकर और विचित्र हैं वह अनेकाद्भूतदर्शन है। **दिव्यानेकोद्यतायुधम्**—दिव्य (प्रचण्ड प्रकाशवाले) अनेक उद्यत (उद्धृत हुए हैं) चक्र, गदा आदि आयुध जिसमें है **सर्वाश्चर्यमयम्**—तेज, बल, वीर्यशक्ति, रूप, गुण, अवयवसंस्थान आदि सम्पूर्ण-विशेषों से प्रचुर आश्चर्य जिसमें हैं **देवम्**—सब ओर से स्वयं ही जो प्रकाशित होता है वह देव है इस प्रकार **सर्वतोमुखम्**—सर्वात्मक अतः **अनन्तम्**—अपरिच्छिन्न रूप को (**दर्शयामास**)-दिखलाया, ऐसा पूर्ववर्ती श्लोक के साथ अन्वय है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर सर्वत्र ही भगवान के अंग, भगवान की क्रिया एवं भगवान की ही महिमा दृष्ट है क्योंकि उनके अस्तित्व के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता की उपलब्धि नहीं होती है। भगवान् के इस प्रकार विश्वरूप का दर्शन तो उनके अनन्य भक्तों को ही सम्भव होता है। [और सब स्पष्ट है।]

[पूर्व श्लोक में भगवान ने अर्जुनको जो दिव्यविश्वरूप दिखलाया उसको संजय ने 'देवम्' (द्योतनात्मक अर्थात् प्रकाशमय) कहकर वर्णन किया। उस देव का (दीप्ति का) उपमा देकर अब स्पष्टीकरण करते हैं—]

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२ ॥

अन्वय—यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य भाः युगपत् उत्थिता भवेत् तदा सा भा तस्य महात्मनः भासः सदृशी स्यात्।

अनुवाद—यदि आकाश में सहस्र सूर्यों का एक साथ प्रकाश उत्थित हो तो वह प्रकाश उस महात्मा के तेज के समान हो सकता या नहीं भी हो सकता।

भाष्यदीपिका—यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य युगपत् भाः उत्थिता भवेत्—यदि अन्तरीक्ष में (आकाश में) या 'द्यौः' इस नाम से प्रसिद्ध उपरे तीसरे स्थान में (स्वर्गलोक में) एक साथ प्रकट हुए सहस्र सूर्यों की (अर्थात् अपरिमित सूर्यसमूह की) भा (प्रकाश) उत्पन्न हो **सा भाः तस्य महात्मनः भासः सदृशी स्यात्**—वह प्रकाश उस महात्मा के विश्वरूप के प्रकाश के सदृश कदाचित् हो तो हो [अथवा सम्भव है कि न भी हो अर्थात् उसमें भी निश्चय नहीं है। मैं तो यही मानता हूँ कि विश्वरूप की प्रभा (प्रकाश) ही अधिक हो जायगी।] इसके सिवा कोई दूसरी उपमा तो है ही नहीं—यह कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—उस विश्वरूप की प्रभा अनुपम थी यह कहते हैं—**दिवि सूर्यसहस्रस्य इत्यादि**—द्युलोक में अर्थात् आकाश में एक साथ उदित हुए हजारों सूर्यों की युगपत् (एक साथ) प्रकट हुई प्रभा हो तो वह प्रभा (प्रकाश) उस समय उस महात्मा विश्वरूप की प्रभा के सदृश किसी प्रकार हो सकती है—इसकी (प्रभा की) दूसरी कोई उपमा नहीं है। भगवानने इस प्रकार दिखाया—इस प्रकार पूर्ववर्ती नवें श्लोक का 'दर्शयामास' क्रियापद के साथ वर्तमान श्लोक का अन्वय है।

(२) **शंकरानन्द**—विश्वरूप का जो देवत्व (प्रकाशत्व) है उसीको स्पष्ट करते हैं—**दिवि**—आकाश में **युगपत्**—एकही साथ **सूर्यसहस्रस्य उत्थिता भाः स्यात्**—उदित हुए हजारों सूर्य की एकही समय में उदित हुई और मेघादि आवरणों से वर्जित जो भा (प्रभा अर्थात् प्रकाश) होती है **तस्य महात्मनः भासः सा सदृशी स्यात्**—वह उस महात्मा के (विश्वरूप के) प्रकाश के सदृश है, ऐसा कहा जा सकता है। [किन्तु दोनों की स्फुरणसम्पत्ति के (प्रकाश शक्ति के) विषय में यदि विचार किया जाय तो हजारों सूर्यों की प्रभा की अपेक्षा विश्वरूप का प्रकाश ही अधिक होगा, ऐसा मैं मानता हूँ, यह संजय के कहने का अभिप्राय है।]

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में विश्वरूप भगवान की संजय ने 'देव' (द्योतनात्मक अर्थात् स्वयंप्रकाश) कहा है। यह सुनकर स्वतः ही जानने की इच्छा

होती है वह प्रकाश कैसा है—जागतिक कोई वस्तु की इसके साथ उपमा हो सकती है कि नहीं। धृतराष्ट्र की इस प्रकार की आकांक्षा की निवृत्ति करने के लिये संजय ने कहा कि यदि आकाश में एक साथ सहस्रों सूर्य उदित हो एवं उनका समवेत प्रकाश एकही समय में एकसाथ प्रकट हो तो वह मानो विश्वरूप महात्मा के [जो महान् (सर्वव्यापी) है तथा सर्वभूतों की आत्मा है—उसके] प्रकाश के सदृश (उपमा) हो सकता है। संजय के कहने का अभिप्राय यह है कि–(१) कोटि कोटि ब्रह्माण्ड हैं और कोटि कोटि सूर्य भी है। जो महात्मा हैं अर्थात् सर्वभूतों की आत्मा एवं विश्वरूप है उनके एक अंश में ही कोटि कोटि सूर्य रहते हैं अर्थात् वे सब उन महात्मा के आंशिक स्फुरण मात्र हैं। अतः उन सब सूर्यों के प्रकाश यदि एक साथ प्रकट हो जाय तो भी विश्वरूप महात्मा के प्रकाश से यह एकत्रीभूत प्रकाश कम ही रहेगा। परमात्मा अनन्त है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) और भौतिक सहस्र सहस्र सूर्य उनकी अपेक्षा परिच्छिन्न, अल्प तथा विनाशी है अतः परमात्मा के प्रकाश के समान नहीं हो सकते है (ख) परमात्मा ही एकमात्र चेतन पदार्थ है—उनके अतिरिक्त और सब ही जड़ वस्तु है। परमात्मा की सत्ता से ही वे सब सूर्य सत्तावान् हैं और उनके प्रकाश से ही सब प्रकाशित हो रहे हैं। इसलिये श्रुति कहती है–'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। प्रकाश्य कभी प्रकाशक के समान नहीं हो सकता। अर्जुन भी कहेंगे–'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः।' (गीता ११।४३) अर्थात् तीनों लोकों में तुम्हारे समान कोई नहीं है, फिर और कोई अधिक तो कहाँ से हो सकता है क्योंकि तुम अप्रतिमप्रभाव (तुम्हारी शक्ति की तुलना नही है)। (२) अब प्रश्न होगा तब सहस्रों सूर्यों के साथ प्रकट हुआ प्रकाश उन महात्मा विश्वरूप के प्रकाश के सदृश हो सकता, ऐसा संजय ने क्यों कहा है ? (उत्तर) प्रकाश के सम्बन्ध में मनुष्य इतनी ही कल्पना कर सकता है। जिसने आम्रफल के रस का आस्वादन नहीं किया उसके निकट उस रस का जो कुछ विवरण दिया जाता है, वह आम के यथार्थ स्वाद जैसा दे नहीं सकता—उस विवरण से केवल काल्पनिक एक स्वाद की ही धारणा होती है, उसी प्रकार केवल धृतराष्ट्र के औत्सुक्य की निवृत्ति करने के लिये ही संजय ने इस प्रकार कहा। विश्वात्मा विश्वरूप के यथार्थ प्रकाश को वही देख सकता है जो सद्गुरु तथा शास्त्रों का अनुशासन पालन कर चित्तशुद्धि लाभ

कर समाधि से परमात्मा के साथ एकत्व अनुभव करके उसमें ही स्थित हो जाता है। भगवान् तो अपने ही अपने के सदृश है, अतः भगवतस्वरूपता प्राप्त कर ही उनको यथार्थ रूप में जाना जाता है—दूसरा कोई उपाय नहीं है। "यदि सा भाः सदृशी स्यात्" ऐसा कहकर 'यदि' शब्द से यही सूचित किया गया है कि कोई भौतिक प्रकाश उन अद्वितीय, अतुल्नीय ब्रह्मज्योति के समान नहीं हो सकता।

[श्रीभगवान् ने ७वें श्लोक में कहा है 'इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।' अर्थात् तुम यहाँ ही (मेरे देह में ही) समस्त चराचरात्मक जगत् को देखो। अर्जुन ने भी उस विश्वरूप का साक्षात् दर्शन किया। उस दर्शन का विवरण संजय धृतराष्ट्र को सुना रहा है—]।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ १३॥

अन्वय—तदा पाण्डवः तत्र देवदेवस्य शरीरे अनेकधा प्रविभक्तम् कृत्स्नम् जगत् एकस्थम् अपश्यत्।

अनुवाद—तब अर्जुन ने उस देवदेव के शरीर में एक ही स्थान में स्थित अनेक प्रकार से विभक्त सारे जगत् को देखा।

भाष्यदीपिका—पाण्डवः तत्र देवदेवस्य शरीरे—देवदेव (देवों के भी देव अर्थात् सर्वदेवों के प्रकाशक हरि का) विश्वरूप शरीर में अर्जुन ने **तदा**—उस समय अर्थात् विश्वरूप के आश्चर्य को देखने की दशा में **अनेकधा प्रविभक्तम्**—देव, पितृ और मनुष्यादि के भेदों से अनेक प्रकार विभक्त हुए **कृत्स्नम् जगत्**—समस्त जगत् को **एकस्थम्**—एकत्र स्थित **अपश्यत्**—देखा। [पृथक्-पृथक् अंग जैसा एक ही शरीर में स्थित रहता है, उसी प्रकार देव, पितृ तथा मनुष्यादि के भेदों से नानाप्रकार से विभक्त हुए समस्त जगत् को उस देवदेव हरि के एक ही शरीर में स्थित देखा—यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—विश्वरूप के दर्शन की अवस्था में क्या हुआ था? इस प्रश्न पर संजय कहते हैं—

अर्जुन ने **अनेकधा प्रविभक्तम्**—नाना विभागों में विभक्त हुये **कृत्स्नम् जगत्**—सम्पूर्ण जगत् को **देवदेवस्य तत्र शरीरे**—उन देवों के देव श्रीहरि के उस शरीर में (उनके पृथक्-पृथक् अंग प्रत्यंग के रूप में) **एकस्थम्**—एकत्र स्थित **अपश्यत्**—देखा।

(२) **शंकरानन्द**—तदा—जिस समय अर्जुन को दिव्यचक्षु दिया गया उसी समय **पाण्डवः**—अर्जुन ने **देवदेवस्य तत्र शरीरे**—देवाधिदेव उसी विश्वात्मक (विश्वरूप) शरीर में **एकस्थम्**—एक स्थान में स्थित रहने पर भी **अनेकधा प्रविभक्तम्**—देव, ऋषि, गन्धर्व आदि भेदों से नानारूप से विभक्त हुये **कृत्स्नम् जगत् अपश्यत्**—समस्त जगत् को देखा।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक में अनन्त विश्वतोमुख (विश्वरूप) भगवान् के प्रकाश की कोई उपमा नहीं है यही सूचित किया गया है। कोटि कोटि ब्रह्माण्ड क्षण क्षण में उस प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं—फिर उसमें ही लय भी हो रहे हैं। एक खण्डकाष्ठ में जिस प्रकार नानाप्रकार के चित्र अंकित होते हैं किन्तु आदि, अन्त, मध्य में उन चित्रों का उस काष्ठ खण्ड से अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार विश्वरूप हरि के शरीर में नानाप्रकार से विभक्त हुये देव, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी कीट पतंगादि को एक साथ उस शरीर के अंग-प्रत्यंगरूप से अर्जुन ने देखा किन्तु वे भी विश्वात्मा भगवान् से किसी भी अवस्था में (सृष्टि, स्थिति, नाश में) पृथक् नहीं है क्योंकि अंगी से अंगों का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। साधारणतः जगद्रूप दृश्य के नानात्व में सत्यत्व बुद्धि रहने के कारण भ्रम रह जाता है किन्तु विश्वरूप के दर्शन के समय बहुप्रकार से विभक्त हुये दृश्यों में एक अद्वितीय सर्वव्यापी-सत्ता (शरीर) की ही प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। यही इस प्रकार अलौकिक दर्शन का माहात्म्य है।

[पूर्व श्लोक में कहा है कि अर्जुन ने भगवान् के विश्वरूप शरीर में सारे जगत् को एक साथ देखा। प्रश्न होगा उस प्रकार दर्शन के पश्चात् अर्जुन की मानसिक तथा दैहिक अवस्था किस प्रकार हुई थी? इसके उत्तर में संजय कहते हैं—]

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

अन्वय—ततः विस्मयाविष्टः हृष्टरोमाः स धनञ्जयः देवम् शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः सन् अभाषत ।

अनुवाद—इस प्रकार दर्शन के पश्चात् उस धनञ्जय ने (अर्जुन ने) विस्मय से आविष्ट (अभिभूत) तथा रोमाञ्चितकलेवर होकर भगवान् को सिर से प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहा ।

भाष्यदीपिका—ततः—उसके पश्चात् अर्थात् विश्वरूप दर्शन करने के पश्चात् **विस्मयाविष्टः**—विस्मय से [अद्भूत वस्तु के दर्शन करने पर चित्त में जो अलौकिक चमत्कारविशेष उत्पन्न होता है उसे विस्मय कहते हैं, उससे] आविष्ट (व्याप्त अभिभूत) अर्थात् आश्चर्ययुक्त और **हृष्टरोमा**—प्रफुल्लित रोमवाला हो गया [भक्ति तथा श्रद्धा की अतिशयता के कारण जो हर्ष (पुलक) उत्पन्न हुआ था उससे अर्जुन के रोम (रोंगटे) खड़े हो गये] । फिर **सः धनञ्जयः**—[महादेवजी के साथ संग्राम आदि से प्रसिद्ध प्रभाव वाले (मधुसूदन)] धनञ्जय (अर्जुन) ने [युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में तथा विराट्पुत्र उत्तर के गौओं को लाते समय समस्त वीरों को जीतकर बहुधन अर्जुन ले आये थे, इसलिये उनको धनञ्जय कहते हैं अथवा धनञ्जय शब्द का अर्थ है अग्नि । अर्जुन अत्यन्त पराक्रमशाली तथा धीर थे—परम तेजस्वी होने के कारण वे साक्षात् अग्निस्वरूप ही थे । इस कारण से भी उनका एक नाम धनञ्जय हैं (मधुसूदन)] ।

देवम् शिरसा प्रणम्य—उस देव को (विश्वरूपधारी साक्षात् नारायण को) सिर से प्रकृष्टरूप से नमस्कार कर अर्थात् अत्यन्त भक्तिपूर्वक सिर को पृथिवी पर भली प्रकार नत करके (रखकर) **कृताञ्जलिः**—(पुनः नमस्कार के लिये) दोनों हाथ जोड़कर **अभाषत**—कहा ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस प्रकार विश्वरूप का दर्शन कर अर्जुन ने क्या किया ? इस पर कहते हैं—

ततः—उस रूप को देखने के बाद **विस्मयाविष्टः हृष्टरोमाः धनंजयः**—विस्मय (आश्चर्य) से जो व्याप्त हो गया है तथा जिसके रोम हृष्ट (हर्षित पुलकित) हो गये हैं ऐसा धनञ्जय (अर्जुन) **शिरसा देवम् प्रणम्य**—सिर से उन विश्वरूप देव को ही प्रणाम करके **कृताञ्जलिः**—(सन्) हाथ जोड़कर **अभाषत**—कहने लगा।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार देखकर अर्जुन ने क्या किया ? इस पर कहते हैं—ततः इत्यादि। इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—विश्वरूप के दर्शन के समय अर्जुन ने देखा भगवान् के शरीर में सहस्रों सूर्यों का प्रकाश प्रकट हो रहा है, देव, पितृ, मनुष्य आदि सभी भगवान् के अंगरूप से प्रतिभासित हो रहे हैं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उनके रोम-रोम में घूम रहे हैं तथापि अर्जुन भयभीत नहीं हुये थे बल्कि वे विस्मय से (आश्चर्य से) अभिभूत हो गये—उनका हृदय पुलक (हर्ष) से भर गया और उस हर्ष से उनका रोम रोम खड़ा हो गया। यह अर्जुन के लिये स्वाभाविक ही है क्योंकि वे धनञ्जय हैं। केवल लौकिक युद्धों में बड़े-बड़े वीरों को पराजय कर वे धन की जय नहीं किये थे परन्तु मोक्षरूप नित्यधन की जय के लिये भी पूर्ण अधिकारी थे। फिर अग्नि के समान महातेजस्वी, संयम तथा वीर्य से महाबलवान् होने के कारण भी अर्जुन को 'धनञ्जय' कहते हैं। इस प्रकार अधिकारी पुरुष को ही भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं दिव्यचक्षु देते हैं उनके अलौकिक विश्वरूप दर्शन करने के लिये। भगवान् के विश्वरूप सदृश अलौकिक वैभव का जितना ही दर्शन होता रहता है उतना ही भक्ति तथा श्रद्धा की अतिशयता के कारण भक्त योगी 'विस्मयाविष्ट' एवं 'हृष्टरोमा' होते हैं और उनका सिर भगवान् के चरणकमलों में पूर्णतया समर्पित होने के लिये स्वतः ही पृथिवी पर भलीभांति नत हो जाता है। और वे बारंबार प्रणाम करने के लिये कृताञ्जलि होते हैं अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर भगवान् के प्रति आन्तरिक श्रद्धा निवेदन करते हैं। इसी अवस्था में भक्तों के हृदय में श्रद्धा, विश्वास तथा प्रेम की बाढ़ बहने लगती है अर्थात् भगवान् की अपूर्व महिमा देखकर एक अद्भूत रस का (आनन्द का) उदय होता है। श्रुति में भी कहा है—'रसो वै सः। रसो ह्येवं लब्ध्वानन्दी भवति'। इस रस से भक्तों की स्तुति में

तीव्र वेग की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये कृताञ्जलि होकर अतिशय प्रेम से भरे हुये हृदय से अर्जुन स्तुति करने लगे।

[जो विश्वरूप को साधारण लोग कभी देख नहीं सकते उस रूप को भगवान् से दिये हुये दिव्य नेत्रों से देखकर 'अहो ! मेरा कैसा उत्कृष्ट भाग्य है' यह सोचकर अपने अनुभव को प्रकट करते हुये]

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच—हे देव ! **तव देहे** सर्वान् देवान् पश्यामि तथा भूतविशेषसंघान् कमलासनस्थम् ईशम् ब्रह्माणञ्च तथा सर्वान् ऋषीन्, दिव्यान् उरगांश्च पश्यामि।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा-हे देव ! मैं आप के शरीर में समस्त देवता, स्थावर-जंगम जीवसमूह, कमलासन पर विराजमान लोकनियामक (सब प्रजा के शासनकर्ता) चतुर्मुख ब्रह्मा को, समस्त ऋषि और दिव्य (देवलोक में होनेवाले) वासुकि आदि सर्पों को भी देख रहा हूँ।

भाष्यदीपिका—अर्जुन उवाच—अर्जुन ने कहा हे देव !–हे स्वयंप्रकाश ! [भगवान् सबको प्रकाशित करते हैं किन्तु उनको प्रकाशित करनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है—यह स्पष्ट करने के लिये 'देव' शब्द का प्रयोग किया गया है।] **तव देहे**–तुम्हारे शरीर में अर्थात् विश्वरूप में **सर्वान् देवान्**—वसु आदि समस्त देवों को **भूतविशेषसंघान्**—स्थावर-जंगमरूप नानासंस्थानविशेषों के (नाना प्रकार से विभक्त हुई आकृतिवाले भूतविशेषों के) समूहों को एवं **कमलासनस्थम् ईशम् ब्रह्माणम् च**–कमलासनपर (भगवान् के नाभि कमलरूप आसन पर) विराजमान अथवा पृथिविरूप कमल में सुमेरु पर्वतरूप कर्णिकापर बैठे हुए तथा ईश अर्थात् सब प्रजा के ईशिता (शासनकर्ता) चतुर्मुख ब्रह्मा को तथा **सर्वान् ऋषीन्**—वसिष्ठ आदि ऋषियों को और **दिव्यान् उरगान् च**—वासुकि प्रभृति समस्त दिव्य अर्थात् देवलोक में होनेवाले (अप्राकृत) सर्पों को **पश्यामि**–देख रहा हूँ अर्थात् चाक्षुष ज्ञान का विषय करता हूँ।

[भूतविशेषसंघों में देवगण अन्तर्भुक्त हैं एवं देवों में चतुर्मुख ब्रह्मा भी अन्तर्भुक्त है तथापि देवगण साधारण प्राणिसमूह से उत्कृष्ट और सर्वदेवों में ब्रह्मा श्रेष्ठ है क्योंकि ब्रह्मा देवों के भी जनक (सृष्टिकर्ता) हैं, इसलिये देवगण को और ब्रह्माजी को पृथक् रूप से अर्जुन ने उल्लेख किया । (आनन्दगिरि)]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अर्जुन बोला—हे देव **तव देहे देवान्**—तुम्हारे शरीर में आदित्य आदि देवों को **तथा सर्वान् भूतविशेषसंघान्**—तथा समस्त जरायुज, अण्डज आदि प्राणिविशेषों के समूह को **एवं दिव्यान् ऋषीन्**—वसिष्ठ आदि दिव्य ऋषियों को भी देख रहा हूँ । फिर **उरगान् च**—तक्षक आदि सर्पों को **कमलासनस्थम् ईशम् ब्रह्माणम्**—कमल के आसन पर स्थित हुए (अर्थात् पृथिवीरूप कमल की कर्णिका सुमेरु पर्वतपर विराजमान अथवा तुम्हारे नाभिरूप कमल के आसनपर स्थित हुए सब देवों के भी स्वामी ब्रह्मा को भी) **पश्यामि**—देख रहा हूँ ।

(२) शंकरानन्द—'पश्य मे पार्थरूपाणि' (हे पार्थ ! तुम मेरे रूपों को देखो), 'पश्याऽदित्यान् वसून्' (आदित्यों को और वसुओं को देखो) इत्यादि से जैसा तुमने कहा, ऐसा ही मैं देख रहा हूँ—इस प्रकार अर्जुन कहते हैं—हे देव ! **तव देहे सर्वान् भूतविशेषसंघान्**—तुम्हारे देह में भूतविशेष अर्थात् देव, तिर्यक् आदि भेदों से भिन्न प्राणिविशेषों के संघ (समूह) को [उन्हीं में जो विशेष है उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन करते हैं—] **देवान्**—देवों को [फिर उन्हीं में भी विशेषरूप से प्रतिपादन करते हैं—] **ब्रह्माणम्**—चतुर्मुख ब्रह्मा को [वह ब्रह्मा कैसा है ? इसपर कहते हैं—] **ईशम्**—समस्त प्राणियों के नियन्ता (ईश्वर) ब्रह्मा को **कमलासनस्थम्**—भगवान के नाभिकमलरूप आसन में स्थित (देख रहा हूँ) **ऋषीन्**—ऋषियों को (नारद एवं सनक आदि को) **दिव्यान् उरगान् च पश्यामि**—शेषनाग, वासुकि आदि दिव्य सर्पों को भी देख रहा हूँ ।

(३) नारायणी टीका—विश्वरूप में सब कुछ ही है। अतः अर्जुन ने उसमें सब प्राणियों के संघों एवं उसमें भी देवगण को एवं उन देवों के भीतर विशेष रूप से देवगणों के भी सृष्टिकर्त्ता तथा सर्वभूत के ईशिता (नियामक) तथा भगवान् के नाभिकमल में स्थित चतुर्मुख ब्रह्मा को एवं शेषनाग, वासुकि प्रभृति दिव्य सर्पों को भी

देखा। गीता में वारंवार यही प्रतिपादित किया गया है कि सबके आत्मस्वरूप भगवान् के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है (गीता ७।७)। विश्वरूप में जो कुछ प्रतीत होता है वह सब कल्पित (अतः मिथ्या) ही है, जैसा स्वप्नद्रष्टा के स्वप्नदृश्य। मायायुक्त (कल्पनाविशिष्ट) परमात्मा में ही विश्व प्रतिभासित होता है-शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में किसी प्रपञ्च का दर्शन नहीं होता। शुद्धजीव अर्जुन जब साधनशक्ति से (सविकल्प समाधि से) मायोपहित आत्मा में पहुँच जाता है तब अतिचेतन मन का द्वार खुल जाता है। यही दिव्य दृष्टि है। इसी अवस्था में समष्टि माया के कार्यों का (देव, ऋषि, स्थावरजंगमात्मक सब प्राणी तथा सृष्टिकर्त्ता एवं सबके नियामक ब्रह्मा का भी दर्शन होता है)। यह कोई असम्भव बात नहीं है क्योंकि स्वप्नद्रष्टा भी स्वप्न में कभी-कभी ऐसा ही देखता है। पहले ही कहा जा चुका है कि वे सब दृश्य मनःकल्पित हैं अर्थात् मन की वृत्तियाँ ही उन सब रूपों में प्रतिभासित होती हैं जैसा स्वप्न में होता है। भेद केवल इतना ही है—लौकिक स्वप्न में विभिन्न पदार्थों को पृथक्–पृथक् रूप से देखा जाता है और सविकल्प समाधि से एक ही आत्मस्वरूप आधार पर (जिसको भगवान का शरीर कहा गया है उसमें) सब कुछ देखा जाता है अतः नानात्व में एकत्व बोध रहता है। [इन दृश्यों में ब्रह्मा का वर्णन विशेषरूप से किया गया है। इसका रहस्य यह है कि अन्तःकरण ही ब्रह्मा है। मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त-ये इनके चार मुख हैं। अन्तःकरण ही कल्पना से सब का सृष्टिकर्ता है और चित्त में स्थित शुभाशुभ संस्कार ही सुखदुःख का नियामक होने के कारण अन्तःकरण ईशिता भी है। अन्तःकरण का स्थान हृदय कमल में है, इसलिए अन्तःकरण रूप ब्रह्मा को कमलासनस्थ कहते हैं।

[भगवान् की देह में अर्जुन ने जो अद्भुत दृश्य देखा है, उन्हीं का विशेषरूप से वर्णन करते हैं—]

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

अन्वय—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् सर्वतः अनन्तरूपम् त्वां पश्यामि; तव अन्तम् न पश्यामि, न मध्यम् , न पुनः आदिं (पश्यामि)।

अनुवाद—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! अनेकों (असंख्य) भूजा, उदर, मुख और नेत्रविशिष्ट अनन्तरूप तुमको मैं सर्वत्र देख रहा हूँ । मुझे तुम्हारा न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही दिखायी देता है ।

भाष्यदीपिका—**हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप !**—तुम केवल विश्व का ईश्वर (नियन्ता—चालक) अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कर्ता ही नहीं हो किन्तु विश्व में जो कुछ रूप दिखायी देता है वह रूप भी तुम्हारा ही है । तुमही सृष्टि आदि का कर्ता, तुमही सबके अन्तर्यामीरूप से नियन्ता हो एवं जिनका नियन्ता हो उनरूपों में भी तुमही विद्यमान हो अर्थात् नियन्ता (ईश्वर) एवं नियन्त्रित (ईशितव्य) दोनों ही तुमही हो क्योंकि पहले तुम्हारे शरीर में देव, ऋषि, ब्रह्मा, दिव्य, सर्पों आदि का दर्शन होता था किन्तु अब तो तुम्हारे बिना और कोई वस्तु को मैं नहीं देख रहा हूँ । और तुम सर्वेश्वर हो—यही अब मैं देख रहा हूँ । **अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् अनन्तरूपम् त्वां सर्वतः पश्यामि**—तुम्हारा अनन्तरूप सर्वतः (सर्वत्र) देख रहा हूँ—[जिसके रूपों का अन्त (समाप्ति) नहीं है वे अनन्तरूप हैं] अनन्तरूप में क्या दिखाया जा रहा है ? इसपर कहते हैं—तुमको अनेकों (असंख्य) भूजा, उदर, मुख और नेत्रोंवाला देख रहा हूँ । **तव अन्तम् न पश्यामि, न मध्यम् न पुनः आदिम् पश्यामि**—[अनन्तरूप का और भी विस्तार कर रहे हैं] तुम्हारा न तो अन्त (अवसान या समाप्ति), न मध्य (आदि एवं अन्त के बीच की अवस्था) और न आदि ही देखता हूँ । कहने का अभिप्राय यह है कि तुम तो परमात्मदेव (स्वयंप्रकाश परमात्मा) हो—मुझे तुम्हारा न अन्त दिखायी देता है, न मध्य दीखता है और न तुम्हारा आदि ही दिखलायी देता है ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् इत्यादि**—तुम्हें अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्र वाला देख रहा हूँ अतः तुम अनन्तरूप वाले हो ऐसा तुमको सब ओर से देख रहा हूँ । (हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप !) तुम सर्वव्यापी हो, इस कारण मैं तुम्हारा अन्त, मध्य और आदि नहीं देख रहा हूँ ।

(२) **शंकरानन्द**—**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्**—इत्यादि अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्रों से युक्त अनन्तरूप तुम हो, ऐसा तुमको सब ओर से

(सर्वत्र) देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! तुम्हारे अन्त, मध्य आदि को मैं नहीं देखता हूँ।

(३) नारायणी टीका—भगवान् विश्वेश्वर अर्थात् मायाशक्ति से समस्त विश्व के सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्ता हैं और सर्वभूतों के अन्तर्यामी हैं (सबकी बुद्धि के प्रेरक) भी है। फिर वही विश्वरूप हैं अर्थात् सर्वरूप में वही विद्यमान है। अर्जुन 'विश्वेश्वर' तथा 'विश्वरूप' शब्दों से सम्बोधित कर सर्वभूतात्मा ब्रह्म का अद्वितीयत्व सूचित कर रहा है अर्थात् स्रष्टा, सृज्य तथा सृजन—सर्व भावों में एक अखण्ड अद्वय ब्रह्म ही विद्यमान है—यह सूचित कर रहा है। सृष्टि आदि माया (कल्पनाशक्ति) का कार्य होने के कारण उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। अद्वितीय आत्मस्वरूप ब्रह्म को ही भूलकर अज्ञान से सर्वतः (सभी ओर से) अनन्त रूपों में देखते हैं। जितने हाथ, जितने उदर (पेट), मुख तथा नेत्र दृष्टिगोचर होते हैं वे सब ब्रह्म ही हैं—उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अनन्त का अन्त, मध्य एवं आदि नहीं हो सकता है। वह तो सदा ही एकरूप रहता है। "तुम्हारा आदि, मध्य तथा अन्त देख नहीं पाता हूँ" ऐसा कहकर आदि मध्य-अन्तवान् अनेक बाहु-उदर-मुख-नेत्र आदि का अर्थात् अनन्त नाम तथा रूपों का मायिकत्व एवं उनके अधिष्ठान सत्ता शुद्धचैतन्यस्वरूप परमात्मा का सत्यत्व, नित्यत्व, अविकारित्व, अनन्तत्व तथा अद्वितीयत्व अर्जुन सूचित कर रहा है।

[अर्जुन फिर बोला—]

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

अन्वय—किरीटिनम् गदिनम् चक्रिणम् च सर्वतः दीप्तिमन्तम् तेजोराशिम् दुर्निरीक्ष्यम् समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिम् अप्रमेयम् त्वाम् पश्यामि।

अनुवाद—तुम मुकुट, गदा और चक्रधारण किये हो, सर्वतः दीप्तिशाली होकर तेजोपुञ्ज रूप से विद्यमान हो, तुम दुर्निरीक्ष्य हो (अर्थात् बिना दिव्य नेत्रों के तुमको देखा नहीं जा सकता है), सब ओर से देदीप्यमान अग्नि और सूर्य के समान तेजोमय

हो तथा सीमा नहीं रहने के कारण (अर्थात् अनन्त होने के कारण) तुम अप्रमेय (प्रमा के परे) हो—इसप्रकार तुमको मैं देखता हूँ।

भाष्यदीपिका–किरीटिनम्—सिर के भूषणविशेष का नाम किरीट (मुकुट), वह जिसके सिर पर हो वह किरीटी है, **गदिनम्**—जिसके हाथ में गदा हो वह गदी है, **चक्रिणम्**—जिसके पास (हाथ में) चक्र है वह चक्री है। इस प्रकार मैं तुमको किरीट-युक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त देख रहा हूँ। और भी देख रहा हूँ। **सर्वतः दीप्तिमन्तम् तेजोराशिम्**—तुम सब ओर से दीप्तिशाली अतः तेज की राशि (समूहरूप से) विद्यमान हो—तथापि तुम **दुर्निरीक्ष्यम्**—तुमको दुःख से (कठिनाईपूर्वक) देखा जा सकता है अर्थात् तुमको देखना अत्यन्त कठिन है क्योंकि दिव्य नेत्रों के बिना तुमको देखा नहीं जा सकता। फिर भी तुमको **समन्तात्**—सब ओर से (अर्थात् सर्वत्र) **दीप्तानलार्कद्युतिम्**—दैदीप्यमान (प्रज्वलित) अग्नि और सूर्य के समान द्युति (प्रकाश)-मय तथा **अप्रमेयम्**—'यह इस प्रकार है' इस प्रकार किसी की बुद्धि तुम्हारा परिच्छेद (सीमा) निर्णय कर नहीं सकती। उस कारण से तुम अप्रमेय (प्रमा के परे) हो—तुमको इसप्रकार मैं देख रहा हूँ। तुम अन्य के लिये दुर्निरीक्ष्य होने पर भी तुम्हारी कृपा से अधिकार प्राप्त होकर दिव्य नेत्र के द्वारा तुमको मैं सब ओर से युक्त देखता हूँ—यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—किरीटिनम् गदिनम् इत्यादि—मैं तुमको किरीट (मुकुट) युक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त, सब ओर से दीप्तिमन्त (प्रकाशशील) और तेजों के पुञ्ज (समूह) रूप देख रहा हूँ तथा तुम दुर्निरीक्ष्य (देखने में अशक्य) हो ऐसा मैं समझ रहा हूँ। उसका कारण यह है कि तुम्हारी द्युति (प्रभा) दीप्त (प्रज्वलित) अग्नि तथा अत्यन्त प्रकाशसम्पन्न सूर्य के समान है एवं इस कारण से तुम अप्रमेय हो। 'यह ऐसा है' इस प्रकार जिसके विषय में निश्चय नहीं किया जा सके वह अप्रमेय तुमको मैं सब ओर से ऐसा ही देखता हूँ।

(२) शंकरानन्द—तेजोराशिम्—तेजः पुञ्जयुक्त अत एव **सर्वतः दीप्तिमन्तम्**—सर्वत्र दीप्तिमान् **दीप्तानलार्कद्युतिम्**—जाज्वल्यमान सूर्य और अग्नि के समान, अतः **अप्रमेयम्**—परिच्छेदरहित (चक्षुरूप प्रमाण के अविषय) अत

एव **दुर्निरीक्ष्यम्**—दुःख से (कठिनता से) भी देख नहीं सकता है—तुमको इस प्रकार मैं देखता हूँ ।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन ने भगवान् को किरीटयुक्त, गदायुक्त, चक्र-युक्त देखा और देखा वह तेज के पुञ्ज है अत एव सर्व ओर से (सर्वत्र) प्रकाशमान है । देदीप्यमान अग्नि तथा अत्यन्त प्रकाशमान सूर्य के समान चारों ओर से दीप्तिमान होने के कारण अर्जुन की दृष्टि में वह अप्रमेय (परिच्छेद या सीमा से रहित) मालुम हुआ क्योंकि भगवान् असीम (अनन्त) है अतः अप्रमेय अर्थात् 'यह इस प्रकार है' ऐसा निर्धारण करने में बुद्धि अशक्त है ।

साधारण दृष्टि में तीनों गुणों के कार्य का मिश्रण रहने का कारण भगवान् की माया से सृष्ट लौकिक जगत् का ही दर्शन होता है, किन्तु जब अर्जुन के समान रजः तमः गुणों से विरहित होकर शुद्धसत्त्वगुण से साधक युक्त होता है तब दिव्यदृष्टि प्राप्त होता है क्योंकि सत्त्व गुण का स्वाभाविक धर्म है वस्तु के स्वरूप का प्रकाशन करना । किन्तु गुण का (सत्त्व गुण का) अस्तित्व रहने के कारण भगवान् की गुणातीत अखण्ड अद्वय सत्ता का अर्जुन ने साक्षात्कार नहीं कर उनके सगुण अलौकिक रूप का दर्शन किया । जिन किरीट गदा तथा चक्र से युक्त हुए भगवान् को देखा, उन सब विभूषण तथा अस्त्रों का रहस्य भागवत में द्वादश स्कन्ध में एकादश अध्याय में ४–२५ श्लोकों में विस्तृत रूप से वर्णित हुआ है । भगवान् के जिस चेतनाधिष्ठित विराट् रूप में यह त्रिलोकी दिखायी देती है, वह प्रकृति, सूत्रात्मा, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा (इन नौ तत्त्वों के सहित) ग्यारह इन्द्रिय तथा पञ्चभूत (इन सोलह विकारों से) अर्थात् २५ तत्त्वों से बना हुआ है (भागवत १२।११।५) यहाँ जो किरीट (मुकुट) गदा, चक्र इत्यादि को अर्जुन ने देखा वे क्या है भागवत कहते हैं देवाधिकदेव भगवान् सब लोकों को अभय करने वाले ब्रह्मलोक को ही मुकुट के रूप में धारण करते हैं। [मूल प्रकृति ही उनकी शेषशय्या है जिस पर वे विराजमान रहते हैं और धर्म ज्ञानादि-युक्त सत्त्वगुण ही उनके, नाभिकमल के रूप में वर्णित हुआ है (एवं जिससे ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई है)] । उनकी गदा (कौमोदकी गदा) है **प्राणतत्त्व**—जो इन्द्रिय और शरीर सम्बन्धी शक्तियों से युक्त रहता है । उनका शङ्ख (पाञ्चजन्य) शब्दत

है जलतत्त्व—और सुदर्शन चक्र है तेजस्तत्त्व—(भागवत १२।११।१२–१४) अतः अर्जुन ने भगवान को सर्व लोक को अभय देने वाले ब्रह्मलोक को किरीट रूप में तथा प्राण तत्त्वरूप गदा को एवं तेजस्तत्त्वरूप चक्र को धारण करते हुए देखा—यही कहने का अभिप्राय है।

भगवान् ज्योति का भी ज्योति है क्योंकि उनके प्रकाश से सूर्य अग्नि इत्यादि के साथ सब कुछ ही प्रकाशित होते है [ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते—गीता]। अतः उनको तेज के राशि (समूह) रूप से सब ओर से दीप्तिमन्त (प्रकाशशाली) तथा अनल (अग्नि) एवं अर्क (सूर्य) इन दोनों के समान तेजसम्पन्न देखना अति स्वाभाविक ही है।

भगवान् का तेज अनन्तशक्तिसम्पन्न है। दिव्यचक्षु भी अन्तवान् (अनित्य) ही है। अन्तवान् वस्तु से अनन्त तेज को पूर्णतया निरीक्षण करना सम्भव नहीं है इस लिये अर्जुन दिव्यदृष्टि प्राप्त होकर भी कहते हैं दुर्निरीक्ष्यम् [अर्थात् निःशेषतया (पूर्णरूप से) ईक्षण करना (देखना) दुःसाध्य है (एक प्रकार से असम्भव है,] एवं इस प्रकार से ही अर्थात् भगवान् अनन्त होने के कारण उनका सगुण विश्वरूप भी अप्रमेय हैं [प्रकृष्टरूप से मेय नहीं हो सकते अर्थात् बुद्धि आदि से उनको 'यह ऐसा है' इसप्रकार सीमित करके देखना असम्भव है।]

[अर्जुन कहने लगे—इसीलिये अर्थात् तुम्हारी योगशक्ति को दर्शन कर मैं अनुमान करता हूँ—]

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अन्वय—त्वम् वेदितव्यम् अक्षरम् परमम् त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम् त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता त्वम् सनातनः पुरुषः मे मतः।

अनुवाद—तुम मुमुक्षुओं के द्वारा जानने योग्य परम अक्षर (अविनाशी) परमात्मा हो। तुम ही इस समस्त जगत् के परम (श्रेष्ठ) निधान (आश्रय) हो। इससे

अतिरिक्त तुम अव्यय (अविनाशी) हो और सनातन धर्म के रक्षक हो। अतः तुम ही सनातन पुरुष हो—यह मेरा मत है।

भाष्यदीपिका—त्वम् वेदितव्यम् अक्षरम् परमम्—[जिसका कभी नाश न हो उसको अक्षर अर्थात् अविनाशी कहते हैं] मुमुक्षुओं के लिये वेदान्त के श्रवणादि से जानने योग्य अक्षर (अविनाशी) परमब्रह्म तुमही हो। क्योंकि परब्रह्म-स्वरूप आत्मा को जान लेने पर ही मनुष्य के परमपुरुषार्थ को (मोक्ष की) सिद्धि होती है। फिर तुमही अन्तिम ज्ञातव्य (जानने योग्य) हो, क्योंकि **त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम्**—जिसमें कोई वस्तु निहित रहती है अर्थात् रक्खी जाय उसे निधान (आश्रय) कहते हैं, सो तुमही इस संसार के परम (सर्वोत्कृष्ट) आश्रय हो। इसके सिवा तुम ही **त्वम् अव्ययः**—तुम अव्यय हो अर्थात् तुम्हारा कभी व्यय (नाश) नहीं होता अर्थात् तुम नाशरहित हो, इस कारण से भी तुम जानने योग्य हो। इसके अतिरिक्त और भी एक कारण है जिसके लिये तुम वेदितव्य (जानने योग्य हो), क्योंकि तुम **शाश्वतधर्मगोप्ता**—नित्य वेद द्वारा प्रतिपाद्य जो धर्म है वही नित्य (सनातन) धर्म है। उस नित्य धर्म का तुमही रक्षक हो क्योंकि **त्वम् सनातनः पुरुषः**—तुमही सनातन (चिरन्तन-नित्य) परमपुरुष हो। (इति) **मे मतः**—यह मेरा मत है [मैं तुमको इसीप्रकार मानता हूँ अर्थात् जानता हूँ (मधुसूदन)]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—जिस कारण तुम्हारा ऐश्वर्य तर्क से अतीत है, इसलिये-**त्वम् एव अक्षरम् परमम्**—तुम ही अविनाशी परम ब्रह्म हो। कैसा ब्रह्म ? **वेदितव्यम्**-मुमुक्षु पुरुषों द्वारा जानने योग्य हो। फिर **अस्य विश्वस्य त्वम् एव परमम् निधानम्**—तुम ही इस विश्व के परम निधान (प्रकृष्ट आश्रय) हो। [जिसमें रखा जाय उसे निधान कहते हैं, अतः निधान शब्द का अर्थ है उत्कृष्ट आश्रय।] अतः **त्वम् अव्ययः**—तुम व्ययरहित अर्थात् नित्य हो एवं **शाश्वत-धर्मगोप्ता**—जो धर्म शाश्वत (नित्य अर्थात् सदा रहनेवाला) है उस सनातन धर्म के पालक हो। **अतः त्वम् सनातनः पुरुषः मे मतः**—और तुम सनातन (चिरन्तन) पुरुष हो, ऐसा मैं मानता हूँ अर्थात् तुम्हारे विषय में मेरी ऐसी ही मान्यता है।

(२) शंकरानन्द—अर्जुन कहते हैं कि तुम्हारे साथ महामाया के योग से

जो तुम्हारा अद्भूत सगुण विश्वरूप संभावित (उत्पन्न) हुआ उसके महत्त्व के दर्शन से ही तुम्हारे यथार्थ स्वरूप को मैं ऐसा मानता हूँ **त्वम् अक्षरम् परमम् वेदितव्यम्**—निरवयव, निराश्रय, क्रिया का अनाश्रय, क्रिया का अविषय तथा अनन्त होने से जो नष्ट नहीं होता, वह अक्षर अर्थात् नित्य कूटस्थ है। श्रुति में भी कहा है 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' अर्थात् हे गार्गि, यह ही वह अक्षर पुरुष है इस अक्षर को। 'परम्' शब्द का अर्थ है उत्तम से उत्तम क्योंकि श्रुति कहती है 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' (अव्यक्त से पर अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष है)। अतएव परमार्थ और परम पुरुषार्थ होने के कारण वेदितव्य—मुमुक्षुओं के द्वारा ज्ञातव्य (जानने योग्य) है अर्थात् 'स आत्मा स विज्ञेयः' अर्थात् श्रुति ने 'वह आत्मा है, वह विज्ञेय है' इससे जिसको वेदितव्य अक्षरस्वरूप निर्विशेष परतत्त्व परब्रह्म कहा है, वह तुम ही हो। श्रीभगवान् कह सकते थे—मैं मुमुक्षुओं से ज्ञातव्य होने पर भी जगत् का बीज मुझसे अन्य कोई है, इस पर कहते हैं—**त्वम् अस्य बीजस्य परम् निधानम्**—महत्तत्त्व से लेकर स्थूलपर्यन्त इन समस्त विकारों के समूहभूत जो विश्व प्रतीत होता है उस विश्व का परम् (अति उत्कृष्ट) निधान (आश्रय) तुम ही हो। [जिसमें सब रक्खा जाता है वह निधान है। यहाँ निधान शब्द का अर्थ है अव्याकृतनामक जगत् का बीज। तुम वही बीज हो, यही कहने का अभिप्राय है, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरोध से जगत् का उपादान और निमित्त ब्रह्म ही है। श्रुति भी कहती है—'परस्मान्न सन्नासन्न सदसदिति आत्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि' (पर अर्थात् परम पुरुष होने से वह न सत् न असत् न सदसत्-उस आत्मा में ही स्थूल सूक्ष्म तथा कारणरूप तीनों प्रकार के जगत् का योनित्व है अर्थात् आत्मा ही उन तीनों जगत् का कारण है। स्मृति (गीता) भी यही कहती है, यथा 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।' अर्थात् हे अर्जुन, मुझसे पर (भिन्न) कुछ भी नहीं है।] अच्छा। यदि मैं ही निर्विशेष परब्रह्म हूँ एवं जगत् का कारण भी मैं ही हूँ, तो भी मुझसे कोई अन्य ईश्वर ज्ञातव्य तथा उपास्य होगा ? इस पर कहते हैं **त्वम् अव्ययः**—[जिसका ज्ञान द्वारा, अज्ञान द्वारा अथवा अन्य किसी से व्यय (विनाश) नहीं होता उसे अव्यय कहते हैं। अतः अव्यय शब्द का अर्थ है नित्य।] तुम अव्यय (नाशरहित) हो अर्थात् नित्य हो, यही कहने का अभिप्राय है।

केवल तुम नित्य ही नहीं **परन्तु शाश्वतधर्मगोप्ता**—शाश्वत से (सदा रहनेवाले जो वेद है उससे) कहा गया जो धर्म (ज्ञान कर्मादि) उनका गोप्ता (रक्षक) अर्थात् वेदविहित वर्णाश्रमधर्म का रक्षक, अतः सृष्टि आदि का कर्त्ता ईश्वर तुम ही हो। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—'एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोका-नामसंभेदाय' ('यह भूतों का अधिपति' यह भूतपाल, यह सेतु के समान विधारक है, इन लोकों की मर्यादा रक्षा करने के लिए। यदि शंका हो कि निर्विशेष परब्रह्म और सविशेष अपरब्रह्म यद्यपि मैं ही हूँ तथापि मुझसे जीव अवश्य ही पृथक् होगा क्योंकि दोनों में भेद है, इसपर कहते हैं-**त्वम् सनातनः पुरुषः**—सभी पुर में नित्य जो शयन करता है वह सनातन पुरुष है [अर्थात् आत्मा (प्रत्येक जीव की आत्मा)] है। आत्मा सनातन (नित्य) है इसलिए श्रुति कहती है। 'न जीवो म्रियते' (जीव मरता नहीं है)। वह आत्मा तुम ही हो क्योंकि श्रुति कहती है 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है।

(३) नारायणी टीका—अर्जुनने भगवान् का किरीट-गदा-चक्रयुक्त तथा अत्यन्त दीप्तिशाली रूप दर्शन कर समझ लिया कि वे सब भगवान् की योगशक्ति से (योगमाया से) प्रतीत हो रहे हैं—भगवान् तो इन सब रूपों की नित्य स्थिर अविनाशी अद्वितीय अधिष्ठान सत्ता है। इसलिए अर्जुन ने कहा—जो अक्षर (अविनाशी) परम पुरुष (परब्रह्म) मुमुक्षुओं के लिए वेदितव्य (जानने योग्य) है अर्थात् 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो द्रष्टव्यः' 'आत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुते विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इसप्रकार श्रुति भी आत्मा को जानना ही परमपुरुषार्थ कहती है एवं जिस आत्मज्ञान से जीव कृतकृत्य हो जाता है वह सर्वभूतात्मा, अखण्ड अद्वितीय परमब्रह्म तुम ही हो। अब प्रश्न होगा अक्षर शब्द से सर्व प्रपञ्चरहित निर्गुण, निराकार सत्तामात्र को ही सूचित किया जा रहा है किन्तु वह वेदितव्य (ज्ञेय) कैसे होगा ? 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (अर्थात् जिधर से वाणी मन के साथ लौट आती है उस परब्रह्म को किससे जाना जाय ? इसपर कहते हैं—**त्वम् अस्य विश्वस्य परम् निधानम्**—तुमही समस्त जगत् का परम (सर्वोत्कृष्ट) आश्रय (अधिष्ठान) हो। निष्प्रपञ्च निर्गुण ब्रह्मस्वरूप तुमको आश्रय कर ही मायासृष्ट सगुण विश्वरूप चलच्चित्र का खेल चल रहा

है। भ्रान्तिजनित मिथ्या वस्तु का स्वरूप जान लेने पर उसका अधिष्ठान (आश्रय) का ज्ञान होता है। अतः मायारचित विश्वका स्वरूप जान लेने पर उससे चित्तवृत्ति निवृत्त होने से उसके आश्रयरूप तुम्हारे यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार होता है। विषय में सत्यत्व तथा सुखत्व बुद्धि जब तक रहती है तब तक चित्त विषयों से निवृत्त नहीं होता है। इसलिये अर्जुन कह रहे हैं **त्वम् अव्ययः**–अर्थात् तुम ही एकमात्र व्यय (क्षय या नाश) रहित नित्य सत्य वस्तु हो–तुमसे अतिरिक्त और जो कुछ विश्व में प्रतीत होता है, वह सब नाशवान् तथा दुःखमय है। अतः जो मुमुक्षु परमानन्दस्वरूप तथा मोक्ष-स्वरूप तुमको प्राप्त कर जीवन को धन्य करना चाहता है उसके लिए प्रपञ्च की सब वस्तु ही हेय (परित्याज्य) हैं। अभिप्राय यह है कि मुमुक्षुओं के लिये तुमसे अतिरिक्त और सभी वस्तु अनित्य, मिथ्या तथा दुःखमय होने के कारण कोई भी दूसरी वस्तु ज्ञातव्य (जानने योग्य) नहीं है क्योंकि तुमही एकमात्र नित्य सत्य अव्यय (अविनाशी) परमब्रह्म हो। प्रश्न होगा कि चित्त का निरोध तो साधारण बात नहीं है किन साधनों से उस निरोध का सम्पादन करोगे? इस पर कहते हैं–**शाश्वतधर्मगोप्ता**–जो धर्म से शाश्वत अर्थात् नित्य सत्य परमात्मा की प्राप्ति होती है उसे शाश्वत धर्म कहते हैं। एकमात्र वेद ही उस शाश्वतधर्म (ज्ञान तथा कर्मात्मक धर्म) का प्रतिपादन करता है अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय केवल वेद से ही जाना जाता है। इसलिये वेदान्त सूत्र में कहा है–'शास्त्रयोनित्वात्'। उन वेदविहित शाश्वत धर्म का तुमही गोप्ता (रक्षक) हो क्योंकि युग युग में (भक्त जब ही तुम्हारे साथ युक्त होने के लिये निष्कपट भाव से प्रयत्न करते हैं उसी समय) तुम उनके हृदय में अवतीर्ण होकर उन वैदिक धर्मको सम्यक् प्रकार से स्थापन करते हो अर्थात् भलीभाँति जाग्रत कर देते हो (गीता ४।८) एवं अज्ञान का नाश कर तुम्हारा शाश्वत (नित्य यथार्थ) स्वरूप प्रकट कर देते हो (गीता १०।१०-११)। अभिप्राय यह है कि तुम्हारी अविनाशी सत्ता को आश्रय कर जो शरणागत होते हैं उनके हृदय में शाश्वत धर्म के रक्षक रूप से विद्यमान रहकर ज्ञानदीप तुम स्वयं ही प्रज्वलित कर देते हो। जो भक्त इसप्रकार तुमको जानता है उसका भय या शोक नहीं रह सकता। प्रश्न होगा जीव तो अपूर्ण अल्पज्ञ, अल्पशक्ति-मान है–वह मुझ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अनन्त (पूर्ण) ब्रह्मस्वरूप को किस प्रकार से

प्राप्त होगा ? इसपर कहते हैं–**त्वम् सनातनः पुरुषः मतः मे**–तुम प्रत्येक जीव के पुरमें (हृदय पुरी में) शयन करते हो अर्थात् सदाही साक्षीरूप में विद्यमान् रहते हो इसलिए तुमको पुरुष कहते हैं। बाल, कौमार, यौवन, जरा इत्यादि अवस्था का परिवर्तन होने पर तुम एकरूप से नित्य रहते हो–केवल जीवहृदय में नहीं विश्व के अणु परमाणु में तुम स्थिर, अचल, अविकारी रूप से स्थित हो, इसलिये तुम सनातन (नित्य) हो। जीवत्व का मूल है अज्ञान (देहादि में मिथ्या आत्माभिमान)। जीव जब तुमको ही एकमात्र सनातन पुरुष जानकर वेदान्तवाक्यादि के श्रवण, मनन से तथा निदिध्यासन से (निर्विकल्प समाधि से) शुद्ध चैतन्यस्वरूप तुमको ही आत्मा के रूप से साक्षात्कार कर लेता है, तब जीव ब्रह्म हो जाता है, यही मेरा मत है अर्थात् तुमको मैं ऐसा ही जानता हूँ।

[अर्जुन और भी भगवान् की योगशक्ति का प्रभाव देख रहे हैं–]

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

अन्वय––अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुम् शशिसूर्यनेत्रम् दीप्त-हुताशवक्त्रम् स्वतेजसा इदम् विश्वम् तपन्तम् त्वाम् पश्यामि ।

अनुवाद––मैं तुमको आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त पराक्रमशील, अनन्त भुजाओं वाला, चन्द्रमा और सूर्यरूप नेत्रोंवाला, प्रज्वलित अग्निसहित मुखोंवाला और अपने तेज से इस विश्व को सन्तप्त करता हुआ देखता हूँ।

भाष्यदीपिका––**अनादिमध्यान्तम्**–आदि (उत्पत्ति), मध्य (स्थिति), और अन्त (नाश) इनसे रहित तुमको मैं देख रहा हूँ। **अनन्तवीर्यम्**–जिसके वीर्यका (सामर्थ्य या प्रभाव का) अन्त (शेष) नहीं है वह अनन्तवीर्य है। मैं तुमको अनन्त-वीर्य से युक्त देख रहा हूँ। **अनन्तबाहुम्**–तुम्हारे बाहुका अन्त नहीं है अर्थात् तुम्हारी भूजाओं की गणना कर शेष नहीं किया जा सकता। अतः तुमको अनन्तबाहुविशिष्ट देख रहा हूँ। [यहाँ भूजाएँ मुखादि का भी उपलक्षण है (मधुसूदन)] **शशिसूर्य-नेत्रम्**–शशी (चन्द्रमा) और सूर्य जिसके नेत्र हैं वह शशिसूर्यनेत्र है। तुमको ऐसा

ही देख रहा हूँ। **दीप्तहुताशवक्त्रम्**–प्रज्वलित अग्नि ही जिसका मुख [अथवा मुख में (मधुसूदन)] जिसके है वह। ऐसा प्रज्वलित अग्निरूप मुखोंवाला तुमको देख रहा हूँ। ['हुताशनः' शब्द का अर्थ है "हुतमश्नातीति हुताशनः वह्निः" अर्थात् यज्ञादिमें जो घृत की आहुति दी जाती हैं उन आहुतिओं को जो अशन (भक्षण) करता है उसे हुताशन (अग्नि) कहते हैं]। फिर **स्वतेजसा इदम् विश्वम् तपन्तम्**–अपने तेज से इस सारे विश्व को तपायमान करता हो, ऐसा रूप धारण किये हुए तुमको मैं देख रहा हूँ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अनादिमध्यान्तम् इत्यादि—मैं तुमको आदि, मध्य और अन्त से रहित (उत्पत्ति स्थिति और प्रलय से शून्य), अनन्तवीर्य [अनन्त अर्थात् असीम वीर्य अर्थात् प्रभाव है जिनका ऐसे], अनन्तबलशाली हाथ हों जिनके ऐसे एवं चन्द्रमा और सूर्य जिनके नेत्र हों ऐसे देख रहा हूँ, तथा जिनके मुखों में प्रज्वलित हुताशन (अग्नि) हो, ऐसे तुमको अपने तेज से इस विश्वको संतप्त करते हुए देख रहा हूँ।

(२) शंकरानन्द—श्रुति कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है), 'यतो वा इमानि' (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं) 'एष सर्वेश्वरः' (यह सबका ईश्वर है), 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप है) इत्यादि इन सब श्रुतियों का जो प्रामाण्य तुमने कहा अर्थात् इन सब श्रुतियों में तुम्हारा स्वरूप जिस प्रकार बतलाया वह सत्य ही है तथापि यदि तुम कहो कि जगत् मुझसे भिन्न है तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब निश्चय रूप से ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुति के अर्थ का अवलम्बन कर मैं कह सकता हूँ कि वह भी (जगत् भी) तुम ही है। इसे ही अब स्पष्ट कर रहे हैं तुमको **अनादिमध्यान्तम्**—आदि, मध्य और अन्त से रहित **अनन्तवीर्यम्**—[वीरों का कर्म वीर्य है।] अनन्त (अपार अर्थात् सीमाहीन) वीर्य से सम्पन्न **अनन्तबाहुम्**—अनन्त (संख्यारहित) भुजाओं से युक्त देख रहा हूँ। और भी देख रहा हूँ कि **शशिसूर्यनेत्रम्**—चन्द्र और सूर्य तुम्हारे नेत्र हैं तथा **दीप्त हुताशवक्त्रम्**—दीप्त अर्थात् शिखाओं से जाज्वल्यमान हुताशन (अग्नि) तुम्हारा मुख है **स्वतेजसा इदम् विश्वम् तपन्तम्**—सूर्य के समान अपने रूप के तेज से

इस विश्वको (जगत् को) तुम तपा रहे हो तुम ही यह विश्व हो अर्थात् इसको तुमसे मैं भिन्न नहीं देख रहा हूँ अर्थात् तुमको विश्वरूप से अवस्थित देख रहा हूँ ।

(३) नारायणी टीका—भक्तों की दृष्टि में भगवान् के दो स्वरूप हैं। (१) नित्य स्वरूप (सर्वप्रपञ्चरहित निराकार निर्गुण अखण्ड अद्वय शुद्धचैतन्यस्वरूप) और (२) लीलास्वरूप (मायायुक्त सगुण ईश्वर स्वरूप अर्थात् सर्वशक्तिमान सर्वान्तर्यामी एवं सर्वस्वरूप)। भक्तिपूर्वक लीला का श्रवण, मनन करते करते निदिध्यासन से नित्यस्वरूप अनुभव हो सकता है। इसलिये पुराणादि में भगवान की लीला का इतना विस्तृत वर्णन है। पूर्ववर्ती श्लोक में विश्वरूप देखते देखते अर्जुन को भगवान् के नित्यस्वरूप का जो ज्ञान हुआ था उसका वर्णन किया। अब फिर विश्वरूप का वर्णन कर रहे है भगवान् देश-काल-कारण से अतीत है इसलिये उनकी लीलाओं का भी आदि-मध्य-अन्त का निर्णय नहीं हो सकता। लीला कोई वस्तु नहीं है—वे सभी भगवान की आत्ममाया के खेल है। रज्जु में कल्पित सर्प का आदि (उत्पत्ति) मध्य (स्थिति) तथा अन्त (नाश) कैसे हो सकते हैं? भ्रान्ति या अज्ञान ही उसका आदि-मध्य-अन्त है। विश्वलीला में भी सभी का माया (अविद्या) ही कारण है। इस माया से युक्त होकर ईश्वर अनन्त वीर्य अर्थात् अनन्त शक्ति से सम्पन्न होते है एवं इस कारण से उनको सृष्टि-स्थिति-प्रलय का कर्ता कहा जाता है। भ्रान्ति से प्रतीत हुई वस्तु की उनकी अधिष्ठान सत्ता से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। अतः सर्वभूत उनकी इस विश्वलीला के यन्त्र हैं। अतः अनन्त प्राणियों के अनन्त बाहु भी उनका ही हैं। आँख का धर्म है प्रकाश करना—विश्व का जो सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक सूर्य और चन्द्रमा है वे भी परमात्मा से ही प्रकाशित हैं। अतः सूर्य और चन्द्र भगवान के नेत्रयुगल हैं ऐसा कहकर अर्जुन भगवान् की स्वतःसिद्ध आत्मज्योतिः की महिमा का कीर्तन कर रहे हैं। दीप्त (प्रज्वलित) अग्नि में यज्ञ के सब द्रव्य की आहुतियाँ दी जाती है इसलिये अग्नि का नाम है 'हुताशन' अर्थात् जो कुछ हुत (आहुत) होते हैं उन सब को अग्नि अशन (भक्षण) कर लेती है। ज्ञानयज्ञ में भी सर्वकर्म तथा सब भावनाओं की अहुतियाँ भगवान् में ही समर्पित होती हैं अतः भगवान् का मुख इस यज्ञ में प्रज्वलित हुताशन या अग्नि है। पहले ही कह चुके हैं कि परमात्मा के अपने तेज से (प्रकाश से) ही सब कुछ

प्रकाशित हो रहा है (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—मा० उ०) किन्तु परमात्मा आनन्दस्वरूप है उनका तेज विश्वको तपाते क्यों है ? उत्तर—विश्व में जब तक नानात्व बुद्धि (अर्थात् एक वस्तु दूसरे से पृथक् है इस प्रकार की भेदबुद्धि) रहती है तब तक उनका तेज एवं तेज से प्रकाशित हुई रूप-नाम-क्रियात्मक एक वस्तु दूसरे को तपायेगी ज्ञान से भेदबुद्धिका नाश होने पर जब सर्वत्र एकत्व का [एक ही भगवान् की सत्ता का] अनुभव होता है तब सब ताप भी मिट जाते हैं। इसलिये श्रुति में कहा है—'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' [सर्वत्र एकत्व देखने वाले का मोह और शोक कैसे रहेगा ?]।

[अर्जुन विश्वरूप में एक भगवान् ही व्याप्त है इसका वर्णन कर रहे हैं]।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अन्वय—हे महात्मन्, त्वया हि एकेन इदम् द्यावापृथिव्योः अन्तरम् व्याप्तम् सर्वाः दिशश्च (व्याप्ताः)। तव इदम् अद्भुतम् उग्रम् रूपम् दृष्ट्वा लोकत्रयम् प्रव्यथितम्।

अनुवाद—हे महात्मन्! द्युलोक (स्वर्गलोक) और पृथ्वी के बीच का यह अन्तरिक्ष एकमात्र आप से ही व्याप्त है तथा सम्पूर्ण दिशाएँ भी आप से ही व्याप्त है। आपका यह अद्भुत उग्ररूप देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं।

भाष्यदीपिका हे महात्मन्—हे अक्षुद्रस्वभाव वाले कृष्ण! [जिसकी आत्मा (अन्तःकरण या स्वभाव) महान् (अत्यन्त उदार) हैं उसे महात्मा कहते हैं। भगवान् स्वभाव से ही अत्यन्त कृपालु तथा वत्सल है, इसलिये भगवान् को अर्जुनने 'महात्मन्' कहकर सम्बोधन किया।]

त्वया हि एकेन—एकमात्र विश्वरूपधारी परमेश्वर से ही **इदम् द्यावापृथिव्योः अन्तरम्**—यह स्वर्ग और पृथिवी के बीच का सारा आकाश अन्तरिक्षलोक तथा **सर्वाः दिशः च व्याप्ताः**—समस्त दिशाएँ भी तुमसे ही व्याप्त (परिपूर्ण)

हो रही हैं। **तव इदम् अद्भुतम् उग्रम् रूपम् दृष्ट्वा**–तुम्हारा यह अद्भुत (विस्मय उत्पन्न करने वाला) और उग्र [क्रूर अथवा अत्यन्त तेजस्वी होने के कारण समझ में आना कठिन है (मधुसूदन)] इस प्रकार का रूप देखकर **लोकत्रयम् प्रव्यथितम्**– तीनों लोक प्रव्यथित (भयभीत या विचलित) हो रहे हैं ['पश्यामि त्वा' अर्थात् मैं तुमको इस प्रकार देख रहा हूँ इस पद को पूर्व श्लोक से अध्याहार करके अर्थ करना पड़ेगा। [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं हे महात्मन् (साधुओं को अभय प्रदान करने वाले, अब तुम इस भयंकर रूपका उपसंहार कर लो–ऐसा अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर–द्यावापृथिव्योः इदम अन्तरम् हि—इत्यादि द्युलोक और पृथिवी के बीच का यह अन्तरिक्ष (आकाश) एकमात्र तुमसे ही व्याप्त हो रहा है तथा समस्त दिशाएँ भी व्याप्त हो रही है। **हे महात्मन्! तव अद्भुतम् इदम् रूपम् दृष्ट्वा लोकत्रयम् प्रव्यथितम्**—तुम्हारे इस अद्भुत (पहले न देखे हुए) इस उग्र (घोर) रूप को देखकर तीनों लोक प्रव्यथित (अत्यन्त भयभीत) हो रहे हैं–[ऐसा मैं देखता हूँ। यहाँ भी पूर्ववर्ती श्लोक से 'पश्यामि' क्रिया को ले आने पड़ेगा]।

(२) शंकरानन्द—पूर्व अध्याय में जो कुछ कहा है उसी का विशेषरूप से स्पष्टीकरण करते हैं–**हि**—जिस कारण से **द्यावापृथिव्योः**—अन्तरिक्ष और पृथिवी (भूमि) का **अन्तरालम्**—मध्यवर्ती भाग **त्वयैकेन व्याप्तम्**—केवल तुम विश्वरूप से व्याप्त (पूर्ण) है तथा **दिशः च सर्वाः**—पूर्व आदि सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त (पूर्ण) है। चराचरात्मक सब विश्व तुमसे व्याप्त है, यही उपलक्षण कर रहा है। जिससे जो व्याप्त होता है, वह तन्मात्र ही होता है इस न्याय से समस्त विश्व तुमसे व्याप्त होने के कारण वह तुम्हारा ही स्वरूप है अर्थात् समस्त विश्व तुमही हो। श्रुति भी कहती है– 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है। इसप्रकार सार्वात्म्य का (ब्रह्म सबकी आत्मा है, इसका) प्रतिपादन करके जो विश्वरूप को अर्जुन देख रहे हैं उसकी स्तुति करते हैं **हे महात्मन्**—महान् [महत्तर विश्वमय आत्मा (देह) जिसकी है वह महात्मा है, उसका सम्बोधन है महात्मन्]। **अद्भुतम् उग्रम् तव इदम् दृष्ट्वा**–

अद्‌भुत (आश्चर्यकर) एवं उग्रम् (अतिभयंकर) इस रूप को देखकर **लोकत्रयम् प्रव्यथितम्**—तीनों लोक में स्थित प्राणिसमूह (अर्थात् समस्त प्राणी) प्रव्यथित (प्रकृष्टरूप से क्षुब्ध तथा व्याकुल) हो रहे हैं।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन ने अब अनुभव किया कि पृथिवी से समस्त आकाश को तथा सब दिशाओं को व्याप्त कर एक आत्मस्वरूप भगवान् ही अवस्थित हैं। जिस मूर्ति में भगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप दिखाया वह अर्जुन की दृष्टि में बहुत ही अद्‌भुत (आश्चर्यजनक) एवं उग्र (भयंकर) प्रतीत हुआ एवं पूर्व श्लोक में उक्त भगवान् के यह अत्यन्त तेजशाली समस्त विश्व को इसप्रकार तपा रहा था कि इस भयंकर कालरूपी मूर्ति से भयभीत होकर समस्त त्रिलोक (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) अत्यन्त व्यथित (विचलित या कम्पित) भी हो रहे थे। इससे अर्जुन सूचित कर रहे हैं कि भगवान् अनन्तशक्ति-सम्पन्न होने के कारण केवल सुन्दर तथा मधुर ही नहीं—वह अद्‌भुत व भयंकर भी है। एकही आनन्दस्वरूप का दो विरुद्ध चित्र भी स्वाभाविक है क्योंकि नाटक में आनन्द के उच्छास से मनुष्य, राक्षस या देवरूप से नाट्यकार अभिनय करते हैं उसमें आनन्द-रूपता की कोई हानि नहीं होती है। अपने-अपने संस्कार के अनुसार जीव जिसप्रकार भावना करता है अथवा अन्तर्यामी भगवान् भक्त के हृदय में जिसप्रकार की भावना करवा देते हैं उसीप्रकार उनका रूप प्रगट होता है। इसलिये भगवान् ने कहा—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११)। अर्जुन युद्ध क्षेत्र में दण्डायमान् है—युद्ध का फल क्या है उसे जानने के लिये उनकी उत्कंठा है। अतः भगवान्‌ने कालरूप में (ध्वंस की मूर्ति में) प्रगट होकर अर्जुन को अपना रूप दिखलाया जिससे अर्जुन जान सके कि वे भी भगवान् के हाथ में एक निमित्त (यन्त्र) रूप से ही इस युद्ध में अभिनय कर रहे हैं—उनकी स्वतन्त्रता कुछ भी नहीं है। सुन्दर मूर्ति हो या भयंकर मूर्ति हो—सबही कल्पित (मायिक) है। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही एकही आनन्दस्वरूप की महिमा है। इसलिये ही अर्जुन ने भगवान् को 'महात्मन्' कहकर सम्बोधित किया। जिसको आत्मा (स्वभाव) महान् (महिमामय) है, उसे महात्मा कहते हैं।

[अर्जुन के मनमें जो पहले संशय था कि 'हम उनको जीतेंगे या ये हमको जीतेंगे ?' उस संशय का निर्णय करने के लिये युद्ध में पाण्डवों की निश्चित विजय होगी

इसे दिखलाऊँगा ऐसा सोचकर उसीप्रकार का रूप धारण करने के लिए भगवान् प्रवृत्त हुए और अर्जुन उस रूप को देखकर कहने लगे—]

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अन्वय—अमी सुरसंघाः हि त्वाम् विशन्ति, केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति; महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वाम् स्तुवन्ति ।

अनुवाद—तुममें ये देवताओं के समूह प्रवेश कर रहे हैं, कोई भयभीत होकर हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं तथा महर्षि और सिद्धों के समूह स्वस्ति ऐसा कहकर परिपूर्ण स्तुति वाक्यों से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं ।

भाष्यदीपिका—अमी सुरसंघाः—ये पृथिवी का भार उतारने के लिये मनुष्य रूप से अवतरित हुए सुरसङ्घ (वसु आदि देवताओं के समुदाय) युद्ध करते हुए **हि त्वाम् विशन्ति**—तुममें ही प्रवेश कर रहे हैं (अर्थात् प्रवेश करते दिखायी दे रहें हैं)। 'हि' शब्द का निश्चयार्थ में प्रयोग हुआ है। ['त्वां सुरसङ्घाः' इसका त्वा असुरसङ्घाः' ऐसा पदच्छेद होने पर पृथिवी के भारभूत दुर्योधनादि असुर तुम्हारे में प्रवेश कर रहे हैं–ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है (मधुसूदन)] **केचित् भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति**—तथा दोनों सेनाओ में से कोई-कोई तो भागने में असमर्थ होने के कारण भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपकी स्तुती कर रहे हैं। **महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा**—तथा महर्षियों और सिद्धों के समुदाय युद्ध आरम्भ होनेपर उत्पात आदि अशुभ लक्षण देखकर 'संसार का कल्याण हो' ऐसा कहकर [युद्ध देखने के लिये आये हुए नारद आदि महर्षि और सिद्धों के समूह विश्व के संहार की निवृत्ति के लिये (मधुसूदन)] पुष्कल अर्थात् सम्पूर्ण अर्थवाली स्तुतियों से (गुणों के उत्कर्ष का प्रतिपादन करनेवाली वाणी से) विश्वरूप तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अमी हि सुरसंघाः भीताः त्वाम् विशन्ति— ये देवताओं के समुदाय भयभीत होकर तुममें प्रवेश कर रहे हैं अर्थात् तुम्हारी शरण में आ रहे हैं **केचिद् भीताः इत्यादि**—उनमें से कोई कोई अत्यन्त भीत होकर दूर ही स्थित रहकर दोनों हाथ जोड़कर 'तुम्हारी जय हो, जय हो, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये' इस प्रकार प्रार्थना करते हैं। [महर्षियों और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर प्रचुर (नानाविध) स्तोत्रों द्वारा आप की स्तुति करते हैं।] अन्य पदों का अर्थ स्पष्ट है।

(२) शंकरानन्द—हि—जिस कारण से तुम शाश्वतधर्म के (वैदिक धर्म के) गोप्ता हो, इसलिये उग्र होनेपर भी अद्भुतस्वरूपवाले तुमको देखने के लिये **अमी त्वाम् सुरसंघाः विशन्ति**—अधिक बल समन्वित सुरसंघ (देवताओं के समूह) तुम्हारे समीप प्रवेश कर रहे हैं **केचिद्भीताः प्राञ्जलयः गृणन्ति**—कोई निर्बल भयभीत होकर दूर से ही हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। **स्वस्ति इति उक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः**—उनमें महर्षिसिद्धसंघ (भृगु आदि महर्षिगण, कपिल आदि सिद्धगण उनके संघ) 'स्वस्ति' (कल्याण हो) कहकर पुष्कल (शब्द और अर्थ की पुष्टि से युक्त) स्तुतियों से तुम्हारी स्तुति करते हैं।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन ने देखा कालरूपी भगवान् के प्रज्वलित मुख में केवल मनुष्यादि ही प्रवेश नही कर रहे हैं सुरों के (देवताओं के) संघ (समूह) भी प्रवेश कर रहे हैं। इससे भगवान् दिखलाते हैं कि देवतालोक (स्वर्गलोक) भी विनाशशील होने के कारण काल का ग्रास बन जाते हैं, अतः जो विवेकी पुरुष नित्यसत्य वस्तु का लाभ करना चाहते हैं उनके लिये स्वर्गलोक भी काम्य नहीं है। जो लोग अभीतक तुम्हारे मुख में प्रवेश नहीं किये हैं उनमें से कोई कोई अत्यन्त भयभीत होकर दोनों हाथ जोड़कर तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं क्योंकि वे देख रहे हैं कि सबको अवश्यम्भावी अन्तिम गति तुम ही हो। किन्तु महर्षि और सिद्धों के संघ (समुदाय) तुमको पुष्कल (तुम्हारा यथार्थस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली) स्तुतियों से स्तवन कर रहे हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जगत् की सृष्टि के व्यापार में तुम्हारी जो महिमा प्रकाशित हो रही है वही महिमा जगत् के लय (नाश) के व्यापार में भी प्रकाशित होती है

अर्थात् तुम्हारे विश्वनाटक में सृष्टि तथा ध्वंस (प्रलय) दोनों ही कल्पित हैं—वे दोनों ही तुम्हारी मायाशक्ति के विजृम्भण (प्रभाव) मात्र हैं अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलय इन तीनों की वास्तविक कोई परमार्थसत्ता नहीं है—इन तीनों के आदि, अन्त, मध्य में एकमात्र तुम (परमात्मा) ही विद्यमान हो। इसलिए तुम्हारी अनिर्वचनीय (शब्दों से निर्णय करने के अयोग्य) शक्ति को देखकर वे सब महात्मा तथा सिद्धों का समूह विस्मय से अभिभूत होकर श्रद्धा तथा भक्ति से (भय से नहीं) तुम्हारे मायातीत पूर्णस्वरूप का तत्त्वनिर्णय करनेवाली वाणीओं से तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। [भगवान् के यथार्थस्वरूप को जो जानते हैं उनकी दृष्टि में सृष्टि और प्रलय, अच्छा और बुरा, सुख और दुःख सभी आनन्दस्वरूप में आनन्द के तरंगरूप से ही प्रतीत होते हैं एवं जो कुछ सर्वभूतों की आत्मा तथा सुहृद (गीता ५।२९) विश्वरूपधारी भगवान् दिखला रहे हैं वे सभी लोगों के कल्याण के लिए ही कर रहे हैं, ऐसा निश्चय कर दूसरे अज्ञानियों के समान भयभीत न होकर भक्ति, श्रद्धा, विस्मय तथा हर्ष के साथ सबका कल्याण हो, कल्याण हो ऐसा कहकर बहु अर्थ र्ण स्तुतियों से स्तवन कर रहे हैं—ऐसा अर्जुन ने देखा।

[अर्जुन और भी देख रहे हैं—]

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

अन्वय—ये रुद्रादित्याः वसवः साध्याः विश्वे (देवाः) अश्विनौ मरुतः, उष्मपाः च गन्धर्वासुरसिद्धसंघाः च सर्वे एव विस्मिताः त्वाम् वीक्षन्ते।

अनुवाद—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमारद्वय, मरुत् नामक देवगण, उष्मपा नामक पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगण—ये सभी तुम्हारा दर्शन कर रहे हैं और विस्मित हो रहे हैं।

भाष्यदीपिका—ये रुद्रादित्याः वसवः ये च साध्याः—जो रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य आदि देवगण हैं **विश्वे**—विश्वेदेव [अर्थात् समान विभक्तिवाले 'विश्वे' और 'देव' शब्दों से कहे जानेवाले जो देवगण हैं—(मधुसूदन)] **अश्विनौ**—

अश्विनी (नासत्य और दस्र) नाम के दो कुमार **मरुतः**—मरुत् नाम के उन्चास देवगण **उष्मपाः**—उष्मपा नामक पितृगण [निवेदन किये हुए अन्न जब तक उष्म (गरम) रहते हैं तब तक ही पितृगण उन्हें ग्रहण करते हैं, इसलिए पितृगण को उष्मपा कहते हैं।] **यक्षासुरसिद्धसंघाः च**—तथा जो गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय हैं **अर्थात्** हाहा—हूहू आदि गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, विरोचनादि असुर और कपिलादि सिद्ध—उन सबके समुदाय ['च' शब्द का समुच्चय अर्थ में प्रयोग हुआ है अर्थात् 'सब मिलकर', इस अर्थ में प्रयोग हुआ।] **ते सर्वे एव विस्मिताः त्वां वीक्षन्ते**—वे सभी आश्चर्ययुक्त हुए तुमको देख रहे हैं (तुम्हारा इस अद्भुत अलौकिक विश्वरूप दर्शन कर रहे हैं)।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—**रुद्रादित्याः**—इत्यादि रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य नामक जो देवताविशेष हैं तथा विश्वेदेव गण एवं जो मरुद्गण हैं एवं गरम अन्न को पीने वाले जो पितृगण हैं वे ['उष्मभागाः हि पितरः' (कृष्ण यजु० तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।१०) अर्थात् पितृगण उष्म (गरम) अन्न को ही अपने भाग के रूप में ग्रहण करते हैं—इस प्रकार श्रुतिवचन है। स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'जबतक अन्न उष्म रहता है, जबतक भोजन करते हुए ब्राह्मणगण मौन धारण कर भोजन करते हैं और जबतक हविष्य के गुणों का वर्णन नहीं किया जाता तबतक पितृगण उस अन्न का भोजन करते हैं]। **गन्धर्वासुरसिद्धसङ्घाः सर्वे विस्मिताः च एव त्वां वीक्ष्यन्ते**—तथा गन्धर्व, यक्ष और विरोचन आदि दैत्यलोग एवं सिद्धों के सङ्घ (समुदाय)—ये सब विस्मय से अभिभूत हुए तुमको देख रहे हैं, इसप्रकार अन्वय करना पड़ेगा।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्ववर्ती श्लोक में अर्जुन विश्वरूप का सामान्यरूप से वर्णन कर अब विशेषरूप से कहते हैं—रुद्रादित्याः इत्यादि—रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य (देवता विशेष) तथा उष्मपा (पितर) [क्योंकि श्रुति कहती है—'उष्मभागा हि पितरः' अर्थात् पितर उष्मभागी है। **गन्धर्वासुरसिद्धसङ्घाः इत्यादि**—गन्धर्व, असुर और सिद्धों के सङ्घ (समुदाय) सब विस्मित (आश्चर्यवान्) होकर तुमको देखते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्टवसु, साध्यगण, विश्वेदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, उन्चास मरुत्, उष्मपा [उष्म अर्थात् गरम

अन्न खानेवाले तथा पीनेवाले] पितरगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्धों के सङ्घ (समुदाय)–इनमें से कोई भी तुम्हारे इस विश्वरूप के पूर्णतत्त्व को नहीं जानते हैं (मनुष्य की बात तो दूर ही है), अतः सभी तुम्हारे इस अलौकिक रूप से विस्मित (आश्चर्यान्वित) होकर तुमको देख रहे हैं।

['लोकत्रयं प्रव्यथितम्' अर्थात् तीनों लोक तुम्हारे इस रूप को देखकर अत्यन्त व्यथित (भयभीत हो रहे हैं–ऐसा अर्जुन ने कहा था (११।२०) एवं पूर्ववर्ती श्लोक में कहा कि 'वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे' (सब विस्मित होकर तुमको देख रहे हैं)। उक्त व्यथा तथा विस्मय का क्या कारण है, उसे अब स्पष्ट कर रहे हैं—]

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

अन्वय—हे महाबाहो ! बहुवक्त्रनेत्रम् बहुबाहूरुपादम् बहूदरम् बहुदंष्ट्राकरालम् महत् रूपम् दृष्ट्वा लोकाः तथा अहम् च प्रव्यथिताः।

अनुवाद—हे महाबाहो ! आपका अनेकों मुख और नेत्रवाला अनेकों भुजा, जंघा और चरणोंवाला अनेकों पेट और अनेकों दाढ़ों से कराल (अत्यन्त भयानक) यह महान्‌रूप देखकर समस्त लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं और मैं भी व्यथित रहा हूँ।

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो !—तुम्हारे बाहु की (भुजा की) शक्ति महान् (असीम) है अतः हे अनन्तशक्तिसम्पन्न भगवन् ! **बहुवक्त्रनेत्रम्**—तुम्हारा इस विश्वरूप (बहुत लम्बा–चौड़ा) अनेकों मुख और नेत्रोंवाला है **बहुबाहूरुपादम्**—बहुत सी भुजाओं, ऊरु (जंघाओं) और चरणोंवाला है **बहूदरम्**—बहुत से पेटोंवाला **बहुदंष्ट्राकरालम्**—बहुत से दाढ़ों से अति विकराल (भयंकर) आकृतिवाला है **दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम्**—तुम्हारे इस महान् (विकट) रूप को देखकर संसार के समस्त प्राणी भय से व्याकुल हो रहा है अर्थात् भय से चलित (कम्पित) हो रहे हैं और मैं भी उन्हीं के समान व्याकुल (भयभीत) हो रहा हूँ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—फिर हे महाबाहो ! **तव महत् रूपम् दृष्ट्वा**—तुम्हारा महान् (अति तेजस्वी रूप को देखकर) **लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम्**—समस्त लोक अत्यन्त व्यथित (अत्यन्त भीत) है एवं वैसे ही मैं भी अत्यन्त व्यथित (भीत) हो रहा हूँ । किस प्रकार के रूप को देखकर ? इस पर कहते हैं **वहुवक्त्रनेत्रम् इत्यादि**—जिसमें अनेकों (वहुत से) मुख और नेत्र हैं तथा अनेकों हाथ ऊरु (जंघा) और पैर हैं एवं जिसमें अनेकों पेट हैं तथा जो बहुत सी दाढ़ों के कारण अत्यन्त विकराल [विकृत अर्थात् रुद्र (भयंकर)] हैं ऐसे रूप को देखकर सब व्याकुलित (भयभीत) हो रहे हैं तथा मैं भी उनके समान व्याकुल हो रहा हूँ ।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार देव आदि का विश्वरूप में प्रवेश, उनकी स्तुति तथा विस्मय (आश्चर्य) पूर्ण दर्शन कहकर अब अर्जुन भयंकर आकार के दर्शन से लोगों के भय तथा अपने भयभीत होना रूप कार्य का प्रतिपादन कर रहे हैं **वहुवक्त्रनेत्रम् इत्यादि**—वहुत प्रकार के मुख और नेत्र जिसमें हैं, बहुत भुजाएँ, ऊरु (जंघा) और पाद जिसमें हैं इस प्रकार वहुत दाँतों से कराल (विकृत) तथा महत् (अति परिमाण वाले) तुम्हारे रूप को (स्वरूप) को देखकर लोक (सब प्राणी) प्रव्यथित हैं [प्र (महा) व्यथा को प्राप्त हैं] एवं वैसे ही मैं भी व्यथित हूँ ।

(३) **नारायणी टीका**—जीवमात्र ही सर्वत्र सौम्य (शान्त सुन्दर एवं कोमलतापूर्ण) मूर्ति सर्वत्र देखना चाहते हैं क्योंकि सभी प्राणी आनन्द तथा शान्ति चाहते हैं और भय तथा दुःख से बचना चाहते हैं । भगवान् सर्वमूर्ति में विराजमान हैं अर्थात् शान्त तथा घोर (भयंकर) मूर्ति उभय में ही भगवान् सामान्यरूप से विद्यमान हैं इस तत्त्व को अर्जुन वारंवार भगवान् के मुख से सुनकर भी अवधारण नहीं कर सके । अतः भगवान् ने प्रत्यक्षरूप से दिखाया कि भगवान् केवल शान्त सुन्दर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले अर्जुनसखा श्रीकृष्ण ही नहीं है किन्तु वे विश्वात्मा विश्वरूप होने के कारण भयंकर से भी भयंकर रूप ग्रहण कर सकते हैं अर्थात् सुन्दर से भी सुन्दर रूप में तथा भयंकर से भी भयंकर रूप में वे ही विराजमान हैं । सब मुख, सब बाहु, सब ऊरु, सब पाद, सब उदर, सब दाँत उनका ही हैं । भगवान् ने वहुत (अनन्त) मुख, बाहु, ऊरु, पाद, उदर, तथा दाँतों से युक्त होकर अर्जुन को अपने सगुण स्वरूप को दिखलाया ।

यह मूर्ति संहारमूर्ति (कालमूर्ति) थी अतः बहुत दाँतों से युक्त वह मूर्ति कराल अर्थात् अत्यन्त विकृत तथा भयंकर दिखाई पड़ रही थी। पहले ही कहा गया है कि अर्जुन बाल्यावधि अपने सखा भगवान् की शान्त मूर्ति को देखने के अभ्यस्त थे। अतः अकस्मात् कालरूपी भयंकर इस महारूप को (विराट् रूप को) देखकर अत्यन्त व्यथित (भयभीत तथा विचलित) हो गया एवं सभी प्राणी को वैसा ही विचलित देखा। [जगत् कल्पित है अतः मन की जिस प्रकार की वृत्तियों का उदय होता है भिन्न भिन्न जीव की दृष्टि में जगत् भी उसी प्रकार पृथक् पृथक् रूप से होता है। अर्जुन से अतिरिक्त अन्य कोई उस विश्वरूप को उस समय नहीं देख रहा था—अर्जुन का भयभीत तथा व्यथित भाव ही सब लोगों पर आरोपित (Projected) होकर 'सब लोक प्रव्यथित हो रहे हैं' वैसा अर्जुन को मालुम हो रहा है।] इस प्रकार महद्‌रूप को (अति विस्तृत रूप को) देखते हुए अर्जुन के मन में भगवान् के प्रति श्रद्धा की उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि होती रही है। इसे ही सूचित करने के लिये अर्जुनने भगवान् को "महाबाहो" कहकर सम्बोधन किया अर्थात् महान् (असीम) बाहु के (भुजा के) बल तुम्हारा है, तुम अनन्तशक्तिसम्पन्न हो, इसलिये तुम्हारे लिये शान्त तथा घोर (भयंकर) रूप को धारण करना कोई भी आश्चर्य की बात नहीं यही 'महाबाहो' शब्द से व्यक्त किया है।

[दूसरे प्राणियों को भगवान् का अद्‌भुत विश्वरूप देखकर विस्मय तथा भय होना स्वाभाविक है किन्तु श्रीकृष्णप्रियसखा अर्जुन को भय क्यों हुआ ? इसको अब स्पष्ट कर रहे हैं]

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

अन्वय—हे विष्णो नभःस्पृशम् दीप्तम् अनेकवर्णम् व्यात्ताननम् दीप्तविशालनेत्रम् त्वाम् दृष्ट्वा अहम् प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिम् शमम् च न विन्दामि।

अनुवाद—हे विष्णो (सर्वव्यापिन्)! तुम्हारी देह आकाश को स्पर्श कर रही है, वह तेजोमय है अनेकों वर्णों से युक्त है फैलाये हुए मुखवाली हैं और देदीप्यमान

(प्रज्वलित) विशाल नेत्रों से युक्त है। ऐसा तुमको देखकर मेरी अन्तरात्मा (अन्तः-करण बहुत व्यथित (भयभीत) हो रहा है। इस कारण से मैं धैर्य और शम का (मन का उपशम तथा संतोष का) अनुभव नहीं करता हूँ।

भाष्यदीपिका—हे विष्णो—हे सर्वव्यापक भगवन्! भगवान् के विशाल विश्वरूप को दर्शन कर उनको 'विष्णु' कहकर सम्बोधन करना युक्त ही हुआ है। **नभःस्पृशम्**—आकाश का स्पर्श किये हुए अर्थात् स्वर्गतक व्याप्त हुए **दीप्त**—प्रज्वलित (प्रकाशमय) **अनेकवर्णम्**—अनेक वर्णों वाले अर्थात् अनेक भयंकर आकृतियों से युक्त **व्यात्ताननम्**—तथा फैलाये हुए बहुत से मुखों से युक्त एवं **दीप्तविशालनेत्रम्**—प्रज्वलित तथा विशाल (बड़े बड़े) नेत्रों वाले **त्वाम्**—तुमको अर्थात् तुम्हारे विश्वरूप को **दृष्ट्वा**—दर्शन कर (अहम्) **प्रव्यथितान्तरात्मा**—प्रकृष्टरूप से (अत्यन्त) व्यथित (भयभीत) अन्तरात्मा (अन्तःकरण वाला) मैं **धृतिम् शमम् च न विन्दामि**—धैर्य [देह और इन्द्रियादि को धारण करने की सामर्थ्य (मधुसूदन)] एवं शम को (उपशम को अर्थात् मन की तृप्तिरूप शान्तिको) नहीं पा रहा हूँ (नहीं अनुभव कर रहा हूँ)।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[मैं केवल भीत हूँ, इतना ही नहीं है अपितु—] हे विष्णो ! **नभःस्पृशम् इत्यादि**—तुम आकाश को स्पर्श कर रहे हो (तुम्हारा रूप आकाश तक व्याप्त है अर्थात् अन्तरिक्ष को पूर्णतया व्याप्त विद्यमान है) तथा दीप्तम्—वह दीप्तिमान (तेज से युक्त) है। फिर वह **अनेकवर्णम्**—अनेक प्रकार के रंगवाले हैं एवं **व्यात्ताननम्**—फैले हुए अनेक मुखोंवाले हैं तथा **दीप्तविशालनेत्रम्**—दीप्तिमान् विशाल (विस्तृत) नेत्रोंवाले हैं। इसप्रकार रूपवाले **त्वाम् दृष्ट्वा**—तुमको (तुम्हारे विश्वरूप को) देखकर (**अहम्**) **प्रव्यथितान्तरात्मा**—मेरी अन्तरात्मा (मन) प्रव्यथित (अत्यन्त व्याकुल) हो गई है, अतः **धृतिम् शमम् च न विन्दामि**—मैं धैर्य को और शम को (शान्ति को) भी नहीं पा रहा हूँ (अर्थात् मेरा धैर्य और शान्ति दोनों ही नष्ट हो गये)।

(२) शंकरानन्द—हे विष्णो—हे सर्वव्यापिन् **नभस्पृशम्**—अभ्रंकश अथवा आकाश के समान जो सबको स्पर्श करता है (छुता है) ऐसा सर्वव्यापी एवं

दीप्तम्—तेज विशेषरूप से दीप्त जाज्वल्यमान तथा **अनेकवर्णम्**—जिनका वर्णन किया जाता है वे वर्ण है अर्थात् रूप को वर्ण कहा जाता है। जिसमें अनेक प्रकार के रूप हैं वह अनेकवर्ण है अर्थात् ब्रह्मा आदि नाना प्रकार के विचित्ररूपविशेषों से विशिष्ट तथा **व्यात्ताननम्**-विस्फारित आनन (मुख)-वाले एवं **दीप्तविशालनेत्रम्**—सूर्य-मण्डल के समान दीप्त और विशाल (विकृत) नेत्रवाले **त्वाम् हि दृष्ट्वा**-तुमको देखकर ही ['हि' शब्द का अवधारणार्थ में प्रयोग हुआ है] (**अहम्**) **प्रव्यथितान्तरात्मा सन्**-मेरी अन्तरात्मा (मन) प्रव्यथित (भय से क्षुब्ध) होकर **धृतिम् न विन्दामि शमम् च**—धृति (धैर्य) और शम (मन का स्वास्थ्य) को मैं नहीं प्राप्त होता हूँ अर्थात् मैं अत्यन्त चकित हूँ।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन ने पूर्वश्लोक में कहा कि मैं स्वयं तथा समस्तलोक विश्वरूप का दर्शन कर प्रव्यथित (अत्यन्त भयभीत) हो रहे हैं। अब उसके कारण को स्पष्ट कर कह रहे हैं-तुम्हारा यह भयंकर रूप आकाश के समान सबको स्पर्श (व्याप्त) कर विद्यमान है, उसमें अनेक आनन (मुख) फैले हुए हैं एवं अनेक विशाल (अतिविस्तृत) नेत्रों आग के समान जल रहे हैं। तुम्हारा रूप सर्वव्यापी होना स्वाभाविक है, इसलिये विद्वान् व्यक्ति तुमको 'विष्णु' शब्द से पुकारते हैं किन्तु जो भयंकर संहारमूर्ति का अवधारण तुम किए हो उसको मेरी दृष्टि सहन नही कर सक रही है, अतः मेरी अन्तरात्मा (अन्तःकरण) प्रव्यथित (पूर्णरूप से व्यथित अर्थात् भयभीत) हो गया और इस कारण से मेरा धैर्य तथा मन की शान्ति भी नष्ट हो गई। समुद्र जिस प्रकार कभी शान्त एवं कभी भयंकर रूप धारण करता है, उसी प्रकार अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान् कभी शान्त (सौम्य) रूप एवं फिर कभी घोर (भयंकर) रूप धारण कर इस विश्वलीला का सम्पादन करते हैं। इन दोनों रूप में एक ही भगवान् सर्वदा समान रूप से स्थित हैं, इस तत्त्व को अभीतक अर्जुन ने अनुभव नही किया है। अतः उनके लिये इस प्रकार के विश्वरूप को देखकर उसको विस्मय, भय एवं व्यथा उत्पन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

[भगवान के दिव्य (अलौकिक) रूप का दर्शन करते हुए भी धैर्य शमादि का अभाव अर्जुन में क्यों दिखाई दिया गया उसका कारण बतला रहे हैं—]

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

अन्वय—दंष्ट्राकरालानि कालानलसन्निभानि ते मुखानि दृष्ट्वा एव दिशः न जाने शर्म च न लभे । हे देवेश ! जगन्निवास ! प्रसीद ।

अनुवाद—जो दाढ़ों के कारण अत्यन्त भयंकर जान पड़ते हैं ऐसे आप के कालाग्नि के समान मुखों को देखकर ही मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान होता है और न शान्ति ही मिलती है । हे जगत् के निवासस्थानभूत देवेश्वर ! आप प्रसन्न होइये ।

भाष्यदीपिका—**दंष्ट्राकरालानि**—दाढ़ों से युक्त भयंकर (विकराल) आकृतिवाले एवं **कालानलसन्निभानि**—कालाग्नि के समान अर्थात् प्रलयकाल में जो अग्नि लोकों को दग्ध करती है उसके समान **ते मुखानि दृष्ट्वा एव**—तुम्हारे मुख को देखकर ही [अर्थात् उनके पास पहुँचकर नहीं बल्कि देखकर ही भय के कारण (मधुसूदन)] **दिशः न जाने**—मैं इन दिशाओं को [पूर्व से पश्चिम दिशा को विवेक (पृथक्) कर] नहीं जान पाता हूँ अर्थात् मुझे दिग्भ्रम हो गया है अतः **शर्म च न लभे**—[तुम्हारे रूप के दर्शन करनेपर भी (मधुसूदन)] मुझे शर्म (सुख) नहीं मिल रहा है, इस कारण हे **देवेश**—हे देवताओं के ईश्वर ! हे **जगन्निवास**—हे समस्त जगत् के आधार ! **प्रसीद**—तुम मेरे उपर प्रसन्न हो जाओ [तुम देवेश हो, इसलिये तुम्हारे लिये कोई काम असाध्य नहीं है । अतः तुम मेरे प्रति प्रसन्न हो जाओ जिससे कि भय दूर हो जाने से मैं तुम्हारे दर्शन से होनेवाला सुख पा सकूँ (मधुसूदन ।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—**हे देवेश ! ते दंष्ट्राकरालानि कालानलसंनिभानि मुखानि च दृष्ट्वा एव**—जो दाढ़ों के कारण अति विकराल और प्रलय काल की अग्नि के समान भयंकर है ऐसे तुम्हारे मुखों को देखकर भय के आवेश से **दिशः न जाने, शर्म च न लभे**—मैं न तो दिशाओं को जानता हूँ और न तो सुख को ही पा रहा हूँ । इसलिये हे **जगन्निवास ! प्रसीद**—हे जगत् के आधार ! तुम प्रसन्न हो जाओ !

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्त्ती श्लोक में उक्त अर्थ को ही दूसरे प्रकार से कह कर अर्जुन भगवान् से उनके प्रसाद की प्रार्थना करते हैं—**हे जगन्निवास ! हे देवेश !**—अन्य के अपेक्षारहित होकर जो स्वयं ही दीप्त (प्रकाशित) होता है वह देव है। अपनी सन्निधि से सबके उपर जो शासन करता है अर्थात् जो सब में प्रेरणा देकर चेष्टा उत्पन्न करता है वह ईश है अतः देवस्वरूप जो ईश है उसे देवेश कहा जाता है और जगत् का आधार होकर जो सबका निवास होता है वह जगन्निवास है। **दिशो न जाने**—दिशाओं को नहीं पहचानता हूँ **शर्म च न लभे**—चित्त के स्वास्थ्य से अर्थात् विक्षेपशून्यता से जो सुख प्राप्त होता है वह सुख मैं भय के कारण नही प्राप्त हो रहा हूँ अर्थात् मैं भयभीत हूँ अतः **प्रसीद**—तुम प्रसन्न हो जाओ। शेष स्पष्ट है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में, भगवान् के आकाशव्यापी महातेजपूर्ण विश्व-रूप-दर्शन से अर्जुन के मन में जो भय तथा व्यथा उत्पन्न हुई उसे ही प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन विस्तृत रूप से वर्णन कर रहे हैं। भगवान् के दाढ़युक्त विकराल (भयंकर) मुखसमूह जो कालाग्नि सदृश (अर्थात् प्रलयकाल में सबका संहार करने के लिए जो अग्नि प्रज्वलित होती है उसके समान) सर्वदिशाओं में छा रहे थे उनको देखकर अर्जुन को दिग्भ्रम हो रहा था (अर्थात् किस तरफ कौन सी दिशा है वह ज्ञान लुप्त हो रहा था)। इसलिये भगवान् के अपूर्व (अलौकिक) रूप का दर्शन करने का महाभाग्य प्राप्त होनेपर भी अर्जुन भय के कारण किसी प्रकार सुख का अनुभव नहीं कर पा रहे थे। इसलिए अर्जुन ने भगवान से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना की अर्थात् इस प्रकार के सर्वसंहारक भयंकर मूर्ति का त्याग कर सौम्य (शान्त) मूर्ति दिखाने के लिए अनुरोध किया जिससे उसके दर्शन से अर्जुन के मन में भयरहित सुख उत्पन्न हो सके। जिस जीव ने भगवान् का सर्वरूप से प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है वह अकस्मात् भगवान् के कालरूप (संहारमूर्ति) को देखकर स्वभावतः ही भयभीत, विचलित एवं कातर होता है। सोने से निर्मित भयंकर मूर्ति तथा सौम्य मूर्ति में पृथकत्व बोध का कारण केवल अज्ञान ही है क्योंकि दोनों के कण-कण में सोना ही पड़ा है। समुद्र के उत्ताल तरंग तथा उसकी शान्त अवस्था में एक ही जल रहता है किन्तु "वासुदेवः सर्वमिति" अर्थात् भगवान् ही सर्वरूप में विद्यमान हैं इस प्रकार का अनुभव अर्जुन को

अभी तक नहीं हुआ। दिशा का ज्ञान सूर्य तथा चन्द्रमा से होता है। जब भगवान् का आकाशव्यापी प्रकाश सब नाम रूप तथा क्रिया को अपने में विलयकर सर्वत्र कालाग्नि-रूप में प्रज्वलित रहता है तब किसी दिशा का ज्ञान सम्भव नहीं होता है एवं अपनी जीव बुद्धि भी उसमें विलीन होती देखकर उस अलौकिक मूर्ति–दर्शन के सुख का पृथक् अनुभव भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए अर्जुन भी कह रहे हैं **"दिशो न जाने न लभे च शर्म"**। भगवान् "देवेश" हैं अर्थात् देवता के भी ईश्वर हैं। अतः सम्पूर्णरूप से स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिमान होने के कारण सौम्य मूर्ति धारण कर अर्जुन को अनायास ही प्रसन्न करने में वे समर्थ हैं, इसे ही सूचित करने के लिए भगवान् को "देवेश" शब्द से अर्जुन ने सम्बोधित किया। अर्जुन ने भगवान् को संहारमूर्ति से अत्यन्त भयभीत होकर भगवान् को संहाररूप क्रिया का परित्याग कर जगत् की रक्षा करने के लिए भी "जगन्निवास" (अर्थात् तुम तो सब जगत के आधार हो, सभी प्राणी तुमको आश्रय कर ही जीवित रहते हैं अतः तुम ही एकमात्र रक्षक हो ऐसा) कह कर शान्त मूर्ति धारण करने के लिए प्रार्थना की।

[भगवान् ने कहा था कि, तुम जो अपनी विजय और शत्रुओं की पराजय सर्वदा देखना चाहते हो तथा इसके सिवा तुम्हें और जो कुछ देखने की इच्छा हो वह सब, हे गुडाकेश ! मेरे शरीर में ही देख लो"। अर्जुन भी ऐसा ही देख कर 'अब मैं उन्हें देख रहा हूँ' इस प्रकार कह कर उनका पाँच श्लोकों में वर्णन करते हैं—]

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणाः विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ २७॥

अन्वय—अवनिपालसङ्घैः सह अमी च धृतराष्ट्रस्य सर्वे एव पुत्राः तथा भीष्मः द्रोणः असौ सूतपुत्रः च अस्मदीयैः योधमुख्यैः सह त्वरमाणाः ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति; केचित् चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते।

अनुवाद—पृथिवीपालक राजाओं के समूह सहित धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा हमारे प्रधान योद्धाओं के सहित भीष्म, द्रोण और यह कर्ण, बड़े वेग से तुम्हारे दाढ़ों वाले विकराल भयंकर मुख में प्रवेश कर रहे हैं उनमें से कितने ही विचूर्णित मस्तकों सहित दाँतो के बीच में भक्षण किये हुए मांस की भाँति चिपके हुए दीख रहे हैं।

भाष्यदीपिका—अवनिपालसङ्घैः सह—अवनि को (पृथिवी को) जो पालन करते हैं उनको अवनिपाल (राजा) कहते हैं। उन राजाओं के सङ्घ (समूह) के सहित अर्थात् उन शल्य प्रभृति राजाओं के समूह के सहित **अमी च**—सामने ही स्थित **धृतराष्ट्रस्य सर्वे एव पुत्राः**—धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सभी पुत्र (अर्थात् युयुत्सु के बिना दुर्योधनादि जो शत सहोदर भ्राता थे वे सभी—फिर केवल दुर्योधन प्रभृति नहीं) **तथा भीष्मः द्रोणः असौ सूतपुत्रः च**—जो सब व्यक्तियों को अजय (अपराजित) मानते थे वे पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य तथा सदाही हमलोगों से द्वेष करता है वह सूतपुत्र कर्ण भी **अस्मदीयैः च**—हमारे पक्ष में स्थित **योधमुख्यैः सह**—धृष्टद्युम्न प्रभृति जो समस्त प्रधान योधा हैं उनके सहित केवल विपक्षीय वीर योधा ही नहीं किन्तु अस्मत्-पक्षीय प्रधान-प्रधान योधा भी विपक्षीय योधायों के साथ **त्वरमाणाः च**—सब के सब बड़ी शीघ्रता से अर्थात् बड़े वेग से **ते दंष्ट्राकरालनि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति**—तुम्हारे दाढ़ों के कारण कराल (अर्थात् भयानक) मुखों में बड़े वेग से प्रवेश कर रहे है **केचित्**—तुम्हारे मुखों में प्रवेश किये हैं उनमें से कितने ही **चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः**—दन्ताघात से विचूर्णित उत्तमाङ्गों से (शिरों से) युक्त होकर **दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते**—दाँतों के बीच में भक्षण किये हुए मांस की भाँति चीपके हुए विशेष रूप से लगे हुए दीख रहे हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि' अर्थात् अन्य भी जो कुछ देखना चाहते हो इस वाक्य से भगवान्ने कहा था (गीता ११।७) कि—इस युद्ध में भविष्य में जो जय-पराजय आदि निर्दिष्ट है वह भी मेरे शरीर में देख लो। उसे अब अर्जुन देखता हुआ 'अमी च' इत्यादि पाँच श्लोकों के द्वारा कह रहे हैं—**अमी च इत्यादि**—ये धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सभी पुत्र अवनिपाल (पृथिवीपति) जयद्रथ आदि राजाओं के समूह सहित तुम्हारे मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं। यह "अमी आदि"

कर्तृ पदों का अगले श्लोक में आए हुए 'विशन्ति' क्रिया के साथ अन्वय है। **भीष्मः द्रोणः सूतपुत्रः तथा असौ**–तथा भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र कर्ण भी प्रविष्ट हो रहे हैं। केवल वे लोग ही प्रविष्ट हो रहे हैं ऐसा नहीं किन्तु **सहास्मदीयैः अपि योधमुख्यैः**–हमारे पक्ष के भी जो सब वीर उन सबका सामना करनेवाले मुख्य-मुख्य योधा हैं (यथा शिखण्डी, धृष्टद्युम्न प्रभृति) उनके सहित वे सब (विपक्षीय वीर) प्रविष्ट हो रहे हैं अर्थात् केवल विपक्ष की सेना नहीं मेरे पक्ष के बड़े-बड़े वीर भी तुम्हारे मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं **वक्त्राणि ते त्वरमाणाः विशन्ति इत्यादि**–[कैसे एवं किस प्रकार मुखों में प्रवेश कर रहे हैं अब अर्जुन उसका वर्णन करते हैं] ये सब शीघ्रता-पूर्वक दौड़ते हुए तुम्हारे दाढ़ों के कारण विकराल (भयानक) मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। उनमें से कितने ही चूर्णीकृत हुए उत्तम अंगों से (शिरों से) युक्त होकर तुम्हारे दाँतों के संधिस्थल में (दराजों में) चिपके हुए दिखाई दे रहे हैं।

(२) **शंकरानन्द**—'यच्चाऽन्यद् द्रष्टुमिच्छसि' (गीता ११।७) इत्यादि से भगवान् ने अर्जुन को यह कहा था कि अपनी जय और दूसरों की पराजय (मेरे अंगों में तुम मुझसे प्राप्त हुई दिव्य दृष्टि से) देखोगे। उसे वहीं देखकर अर्जुन अब चार श्लोकों से कहते हैं। इस श्लोक में सभी पदों के साथ 'चकार' का सम्बन्ध है। '**अमी**'–शब्द का तात्पर्य यह है कि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि जो सब अवनिपालों के सहित ही तुम में प्रवेश कर रहे हैं वे मेरे सामने (मेरे प्रत्यक्ष रूप के सामने) दिखाई देनेवाले हैं। यहाँ भी 'विश' धातु का सम्बन्ध है अर्थात् 'विशन्ति' इस क्रिया का अध्याहार कर इस श्लोक का अर्थ करना पड़ेगा। **भीष्मः द्रोणः सूतपुत्रः इत्यादि**–भीष्म द्रोण तथा यह सूतपुत्र कर्ण, हमारे मुख्य योधा द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि के सहित प्रवेश कर रहे हैं (श्लोक २६)।

श्लोक २७—**वक्त्राणि ते त्वरमाणाः विशन्ति इत्यादि**–द्रुतगति से युक्त होकर ये सब भयानक (भयंकर) कराल (विकराल) दाढ़ों से युक्त तुम्हारे मुखों में प्रवेश करते हैं। उनमें से कोई-कोई मुख्य योधा चूर्णित हुए उत्तम अंगों से (शिरों से) उपलक्षित होकर तुम्हारे दशनों के अन्तर में अर्थात् दाँतों के विवरों में दिखाई दे रहे हैं।

(३) **नारायणी टीका**—(२८-२९ श्लोकों की नारायणी टीका देखिए)

[पूर्व श्लोक में कहे हुए वीर पुरुष किस कारण से तथा किस प्रकार से भगवान् के मुखों में प्रवेश कर रहे हैं वह दृष्टान्त द्वारा अर्जुन अब वर्णन करते हैं—]

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।२८।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।२९।

अन्वय—यथा नदीनाम् बहवः अम्बुवेगाः समुद्रम् एव अभिमुखाः (सन्तः) द्रवन्ति, तथा अमी नरलोकवीराः अभिविज्वलन्ति तव वक्त्राणि विशन्ति । यथा समृद्ध-वेगाः पतङ्गाः नाशाय प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति तथा एव समृद्धवेगाः लोकाः नाशाय तव अपि वक्त्राणि विशन्ति ।

अनुवाद—जिस प्रकार चलती हुई नदियों के अनेकों जलप्रवाह (बड़े वेग से) समुद्र की ही ओर बहते हैं एवं समुद्र में ही प्रवेश करते हैं, उसीप्रकार भीष्मादि मनुष्य लोक के ये वीर पुरुष तुम्हारे विशेष भाव से (चारों ओर से) प्रज्वलित (प्रकाशमान) मुखों में प्रवेश कर रहे हैं (२८ श्लोक) जिसप्रकार पतंग (पक्षयुक्त शलभ) बढ़े हुए वेग के साथ जानबुककर (दौड़ कर अत्यन्त वेग से) अपने नाश के (मरण के) लिए प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये दुर्योधनादि सभी लोग तीव्र वेगवान् होकर (विवश होने के कारण अपने नाश के लिए) तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ।

भाष्यदीपिका—यथा नदीनाम् बहवः अम्बुवेगाः—[किस प्रकार से वे सब भगवान् के मुखों में प्रवेश कर रहे हैं. यह कहते हैं] जिस प्रकार नदियों के अर्थात् चलती हुई जलधाराओं के अनेकों जल के वेग अर्थात् वेगयुक्त प्रवाह (नाना मार्गों में वेग से प्रवाहित जलराशि) **समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति**—समुद्र की ही ओर बहते हुए (दौड़ते हुए) समुद्र में ही प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् समुद्र के साथ एक होकर मिल जाते हैं, **तथा अमी नरलोकवीराः अभिविज्वलन्ति तव वक्त्राणि विशन्ति**—उसीप्रकार ये भीष्मादि मनुष्यलोक के सब शूरवीर तुम्हारे

अभितः (सब और से) प्रज्वलित (प्रकाशमान अर्थात् जलते हुए) मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। [अबुद्धिपूर्वक अर्थात् विना जाने बुझे किस प्रकार जीव विवश होकर मृत्यु के मुखों में प्रवेश करते हैं वह चलती हुई नदियों के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर अब जानबुझकर भी विवश होकर किस प्रकार मृत्युरूप भगवान के मुखों में जीवसमूह प्रवेश करते हैं उसे अन्य दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं–] **यथा समृद्धवेगाः पतङ्गाः**– जिस प्रकार पतंग अर्थात् जो सब शलभ के पक्ष (पंख) है वे दौड़ दौड़ कर अत्यन्त वेग से [बढ़े हुए वेग से अर्थात् गति से युक्त होकर जानबुझकर—मधुसूदन)] **नाशाय प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति**– अपने नाश के लिए (मरने के लिए) प्रदीप्त (प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं **तथा एव समृद्धवेगाः लोकाः नाशाय तव अपि वक्त्राणि विशन्ति**–उसी प्रकार वे दुर्योधनादि सभी लोग विवश होकर अपने नाश के लिए समृद्धिवेग से युक्त होकर अर्थात् दौड़-दौड़कर बढ़े हुए अत्यन्त वेग (गति) के साथ तुम्हारे मुखों में ही प्रवेश कर रहे हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि शलभों के जब पंख उत्पन्न होते हैं तब वे जिसप्रकार अवश होकर अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राण का विसर्जन कर देते हैं, उसीप्रकार दुर्योधन आदि शूरवीरगण भी उनके मृत्युकाल उपस्थित होने के कारण अत्यन्त शीघ्रता से जानबुझकर भी अवश होकर तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—किस प्रकार वे सब भगवान् के मुख में प्रवेश कर रहे हैं उसे उदाहरण से वर्णन करते हैं। **यथा नदीनाम् बहवः अम्बुवेगाः**—जैसे अनेकों मार्गों द्वारा बहती हुई नदियों के अनेकों वारिवेग (जलप्रवाह) समुद्र के सम्मुख होते हुए समुद्र की ओर ही प्रवाहित होते (दौड़ते) हैं अर्थात् समुद्र में प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये नरलोक के वीरगण सब ओर से प्रज्वलित (प्रदीप्त) तुम्हारे मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। [परवश होकर किसप्रकार प्रवेश होता है वह नदी के वेग का उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर अब बुद्धिपूर्वक प्रवेश करने का उदाहरण देते हैं–] **यथा प्रदीप्तम् ज्वलनम् पतङ्गाः इत्यादि**—जैसे सूक्ष्मपक्षी विशेष (छोटे पंखों से युक्त होकर) पतङ्गें जान-बुझकर बढ़े हुए वेग के (गति के) साथ मरने के लिए ही प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट होते हैं उसीप्रकार ही ये सब लोग अर्थात् योद्धा आदि लोग नाश के (मरने के) लिए तुम्हारे मुखों में समृद्ध वेगवान् होकर (बड़े वेग से) प्रविष्ट हो रहे हैं।

(२) **शंकरानन्द**–फिर भी भगवान् के मुखों में उनके प्रवेश को ही दृष्टान्त के साथ कहते हैं–'यथा' इत्यादि से **नरलोकवीराः**—मनुष्य लोक में वीर अर्थात् शूर भीष्मादि । शेष स्पष्ट है । किस लिये मुख में प्रवेश करते हैं ऐसी आकाङ्क्षा होने पर प्रवेश करने का प्रयोजन क्या है वह २६ श्लोक में दृष्टान्त के साथ "यथा" इत्यादि से कहते हैं । **समृद्धवेगाः**—प्रचंड वेगवाले **पतङ्गाः**—शलभसमूह **लोकाः**—शत्रुजन-समूह । शेष स्पष्ट है ।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने सातवें श्लोक में अर्जुन को उनकी विजय तथा शत्रुओं की पराजय (एवं इसके सिवा और भी जो कुछ उनके देखने को उन सबको) अपने शरीर में (विश्वरूप में) दिखलाने के लिए कहा था । अर्जुन अब उन्हें देखकर पाँचों श्लोकों में उनका वर्णन कर रहे हैं । अर्जुन देख रहे हैं कि विपक्षीय राजाओं के साथ धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा भीष्म, द्रोण व कर्ण अपने पक्षीय प्रधान योद्धाओं के साथ बड़ी शीघ्रता से भगवान् के दाढ़ों के कारण कठोर और भयंकर मुखों में प्रवेश कर रहे हैं और कुछ उनके दाँतों के बीच में संलग्न हुए चूर्णित मस्तकों सहित दिखाई दे रहे हैं । अर्जुन, पितामह, भीष्म एवं गुरु द्रोण की हत्या नहीं करना चाहते । इसलिए वे युद्ध से विरत होने के लिए प्रवृत्त हुए थे । आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र के प्रति भी उनका स्नेह एवं मोह कितना तीव्र था वह गीता के प्रथम अध्याय में उन्होंने अपने मुख से ही स्पष्ट रूप से वर्णन किया है । विपक्ष में बहुत से राजा भी उनके बन्धु एवं स्वजन थे । अतः उनकी भी हत्या करने के लिए वे राजी नहीं थे । अपने पक्षीय स्वजन बन्धु-बान्धव के प्रति उनका स्नेह, प्रेम तथा मोह स्वाभाविक ही था । शूरवीर कर्ण अर्जुन के प्रति बाल्यकाल से ही विद्वेषभाव पोषण करते रहते थे एवं अर्जुन भी कर्ण का बल, वीर्य स्वीकार कर कर्ण को अपना महाप्रतिद्वन्द्वी (महाशत्रु) समझते थे । इसलिए ही वे कर्ण को घृणासूचक सूतपुत्र अर्थात् सारथि का पुत्र कहकर वर्णन कर रहे हैं एवं **असौ**—(यह) कहकर सम्मुखस्थित कर्ण को अंगुली से निर्देश कर रहे हैं । जब अर्जुन ने देखा कि इसप्रकार कर्ण भी कालरूप भगवान् के मुख में प्रवेश कर रहा है तब उनका सुख-बोध होना उचित था परन्तु साथ-साथ ये भी जब देखा कि अपने पक्ष के तथा विपक्ष के बड़े-बड़े वीर एवं आत्मीय स्वजन बन्धु-बान्धव सभी

उसीप्रकार भगवान् के मुख में प्रवेश कर रहे हैं तब अर्जुन उस दृश्य को सहन नहीं कर सके। दोनों पक्षीय सेना ही दौड़-दौड़ कर बड़ी शीघ्रतापूर्वक भगवान् के विकराल मुख में प्रवेश कर रही हैं, इसको देखकर अर्जुन के मनमें इस विषय पर कोई संशय नहीं रहा कि इस कालरूप विश्वमूर्ति में कोई अपना एवं पर का भेद नहीं है, सब सृष्ट पदार्थ ही ज्ञान से या अज्ञान से मृत्यु के गाल में शीघ्रगति से प्रवेश करते हैं। सृष्टि के साथ-साथ ही नाश की गति शुरू होती है, इसमें अच्छा-बुरा, शत्रु-मित्र, धार्मिक-अधार्मिक में कोई विशेषता (पार्थक्य) नहीं है क्योंकि सर्वत्र सब परमेश्वर में, इस शाश्वत नियम में कोई विषमता की सम्भावना नहीं है। अतः परमेश्वर तक पहुँचने के लिए मुमुक्षुओं को शत्रु एवं मित्र अर्थात् धर्म एवं अधर्म रूप सब वृत्तियाँ के ही उनमें विलय की आवश्यकता होती है, नहीं तो कुछ भी अवशिष्ट रहने पर अर्थात् जीव और परब्रह्म में कुछ भी भेद रहते हुए एक अद्वितीय अनन्त (पूर्ण) परमात्मा का साक्षात्कार कैसे हो सकता है? इसलिए ही बाह्य सब दृश्य तथा आन्तरिक वृत्तियों को जब अन्तर्निहित आत्मा इसप्रकार भयंकर विकराल मूर्ति ग्रहण कर अपने में समेट लेता है तभी जीव की ब्रह्म-विद्या तथा मुक्ति का द्वार खुल जाता है। [गीताशास्त्र ब्रह्मविद्या है एवं जो कुछ भगवान् कर रहे हैं एवं बोल रहे हैं वह अर्जुन को ब्रह्मविद्या देने के लिए ही किया गया है यह बात हम लोगों को भूल जाना उचित नहीं है। इसी दृष्टिकोण से इसप्रकार भयंकर विश्वमूर्ति के दर्शन की आवश्यकता अनिवार्य है]। सभी जीव की शाश्वत पिपासा है परम आनन्द एवं परमशान्ति प्राप्त करना अर्थात् सभी जीवन की गति है परमानन्दस्वरूप परमब्रह्म के धाम में पहुँचना। उस धाम में पहुँचने के लिए सब वृत्तियों का जितना ही तीव्र संवेग होगा उतना ही शीघ्र वह उद्देश्य सफल होगा। इस तीव्र संवेग को सूचित करने के लिए ही अर्जुन कह रहे हैं—"**ते त्वरमाणाः विशन्ति**"—अर्थात् चाहे बाहर का शत्रु या मित्र हो अथवा भीतर की अनुकूल या प्रतिकूल वृत्तियाँ हो (गीता के प्रथम अध्याय का परिशिष्ट अर्थात् नारायणी टीका द्रष्टव्य) सभी भगवान् के मुख में अतिशीघ्र वेग से प्रवेश कर रहे हैं। इसप्रकार का विलय जानबूझ के नहीं होता है तो अनजान से भी होता है। इसलिए अर्जुन कह रहे हैं कि नदियों के अनेकों जलप्रवाह समुद्र की ही ओर बहते हुए जिसप्रकार समुद्र के

साथ एक होकर समुद्र में विलय हो जाते हैं, उसप्रकार तुम्हारे चारों ओर से प्रज्वलित मुख में मनुष्य लोक के वीर पुरुषगण [आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्यलोक को प्राप्त करानेवाली बलवान् वृत्तियाँ] प्रवेश कर रहे हैं। भक्त जब एकमात्र भगवान् का ही शरण लेता है तब भगवान् भी कृपा कर भक्त को सर्वपाप से विमुक्त कर देते हैं। (गीता १८।६६)। नदियों के समान भक्त स्वयं भी नहीं जानते हैं कि किस प्रकार से उनको द्वैतबुद्धिजनित बाहर एवं भीतर के अनुकूल तथा प्रतिकूल दृश्यों परमानन्दस्वरूप भगवान् में लय होकर उनके साथ एक हो जा रहे हैं किन्तु जो लोग भगवान् का शरण नहीं लेकर बुद्धिपूर्वक अपने व्यक्तित्व को उनसे पृथक् मानते हैं उनकी भी गति सर्वात्मा भगवान् की ओर ही चलती रहती है परन्तु जिसप्रकार संवृद्ध (पंख से युक्त होकर बढ़े हुए) वेगवाले पतङ्ग अपने नाश के लिए प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार वे लोग नाश के लिए ही अविवेक के कारण तीव्र वेग से भगवान् के मुख में प्रवेश करते हैं अर्थात् वे पुनः जन्मग्रहण करने के लिए मृत्यु को वरण कर लेते हैं (अर्थात् नदियों के समान आनन्दसमुद्रस्वरूप परमात्मा में अभिन्न-रूप से प्रवेश नहीं कर पाते हैं)। अतः सुषुप्ति में जिसप्रकार सारी वृत्तियाँ आत्मा में लय प्राप्त होकर पुनः जाग्रत होती है, उसी प्रकार अर्जुन भी देख रहे हैं कि अभक्त लोग भी भगवान् के मुख में नाश (विलय) के लिए जा रहे हैं किन्तु उसका परिणाम है नाश या मृत्यु, मुक्ति नहीं है। यह ही २६ से २९ श्लोकों का तात्पर्य है।

[युद्ध करने के लिए उत्सुक राजाओं के भगवान के मुख में प्रवेश करने के प्रकार को कहकर अब भगवान की तथा उनके तेज की प्रवृत्ति के प्रकार का अर्थात् भगवान ने उस समय क्या किया था एवं भगवान की जिस प्रज्वलित प्रभा के सम्बन्ध में पहले कहा गया है उस प्रभा से क्या कर्म सम्पन्न होते रहते थे उसका वर्णन करते हैं—]

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

अन्वय—समन्तात् ज्वलद्भिः वदनैः ग्रसमानः (त्वं) समग्रान् लोकान् लेलिह्यसे; हे विष्णो ! तव उग्राः भासः तेजोभिः समग्रं जगत् आपूर्य प्रतपन्ति।

अनुवाद—तुम्हारे प्रज्वलित मुखों से समस्त लोकों को सब और से निगलते हुए तुम उन्हे चाट रहे हो हे विष्णो (सर्वव्यापक परमात्मन्) तुम्हारी उग्र (प्रचंड) प्रभाएँ (तेज) अपने प्रकाश से समस्त जगत् को व्याप्त करके तपा रहीं हैं अर्थात् समस्त जगत् में सन्ताप उत्पन्न कर रही हैं।

भाष्यदीपिका—समन्तात् ज्वलद्भिः वदनैः ग्रसमानः त्वम् समग्रान् लोकान् लेलिह्यसे—सब ओर से अपने प्रज्वलित मुखों से उक्त प्रकार के वेग से प्रवेश करनेवाले दुर्योधनादि समस्त लोकों को ग्रसते हुए अर्थात् निगलते हुए-अपने भीतर ले जाते हुए चाट रहे हो अर्थात् उनका आस्वादन कर रहे हो। [भगवान की उस समय की प्रवृत्ति कैसी हुई वह कहकर उनकी प्रभा की प्रवृत्ति कहते हैं-] **हे विष्णो**-हे व्यापनशील (सर्वव्यापक परमात्मन्) **तव उग्राः भासः**—तुम्हारी उग्र अर्थात् क्रूर (भयंकर तथा प्रचंड) प्रभाएँ (दीप्तिसमूह) **तेजोभिः समग्रं जगत् आपूर्य**-अपने तेज से सारे जगत् को व्याप्त करके **प्रतपन्ति**—प्रतप्त कर रहीं हैं [प्रकृष्ट रूप से तपा रहीं हैं अर्थात् समस्त जगत् में सन्ताप उत्पन्न (पैदा) कर रहीं हैं]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्ववर्त्ती श्लोक में अर्जुन ने जो कुछ कहा उसके बाद क्या हो रहा है ? यह अब बताते हैं **ग्रसमानः समन्तात् लोकान् इत्यादि**-तुम सब लोगों को (इन सब वीरों को) सब ओर से अपना ग्रास बनाते हुए अर्थात् निगलते हुए लेहन कर रहे हो अर्थात् अतिशय वेग से चाटे जा रहे हो (खा रहे हो) किनके द्वारा ? **ज्वलद्भिः वदनैः**—प्रज्वलित मुखों के द्वारा **हे विष्णो ! तव भासः समग्रं जगत् आपूर्य उग्राः भासः प्रतपन्ति**-हे विष्णो! तुम्हारी प्रभाएँ (दीप्तियाँ) अपने तेज से (स्मरण से-प्रकाश से) समस्त जगत्को व्याप्त करके उग्र (तीव्र) हो गई हैं एवं इसलिए वे सारे जगत् को सन्तप्त कर रहीं हैं।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्ववर्त्ती श्लोकों में राजाओं को भगवान के मुखों में प्रवेश करने का प्रयोजन कह कर उस दशा में परमेश्वर क्या कर रहे थे यह कहते हैं-**ज्वलद्भिः वदनैः समन्तात् समग्रान् लोकान् ग्रसमानः लेलिह्यसे**—जलते हुए प्रवर्ग्याग्नि के (अनेक यज्ञाङ्गपात्रों में प्रज्वलित अग्नि के) समान बाहर प्रज्वलित मुखों से सब ओर से प्रविष्ट हुए समग्र (अशेष-असंख्य) लोगों को अर्थात् शत्रुजनों को

ग्रसते हुए (भीतर में निगलते हुए) तुम जिह्वाओं से लेहन करते हो अर्थात् ओंठ (तालु) चाटते हो। **हे विष्णो तेजोभिः समग्रं जगत् आपूर्य तव उग्राः भासः प्रतपन्ति**–हे सर्वव्यापिन्, अपने प्रकाशों से सम्पूर्ण जगत् को पूर्ण करके अर्थात् व्याप्त करके तुम्हारी उग्र (प्रचंड) दितियाँ ग्रीष्म के सूर्य के समान ताप करती है अर्थात् समस्त जगत् को तप्त कर रही है।

(३) **नारायणी टीका**—युद्ध करने के लिए उत्सुक हुए वीरगण भगवान् के मुखों में इस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं यह कह कर अब उस समय भगवान् का स्वरूप तथा उनके तेज की प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए अर्जुन से कहा–तुम्हारे प्रज्वलित मुख से सम्पूर्ण लोकों को सब ओर से निगलते हुए तुम उन्हें चाट रहे हो। इस प्रकार भगवान् का स्वरूप जब तक भक्त की दृष्टि में प्रकट नहीं होता है तब तक जीव अर्जुन (शुद्धबुद्धि) होकर भी भगवान् की भक्तवत्सलता अनुभव नहीं कर सकते एवं उनके अपूर्व प्रेमका आस्वादन कर अपने को पूर्ण रूप से समर्पण कर निश्चिन्त नहीं हो सकते। जीव के अन्तःकरण की समस्त वृत्तियाँ (जो बाहर एवं भीतर की सभी वस्तुओं का मूल कारण हैं) वे अत्यन्त वेग से (तीव्र संवेग से) आनन्दघन सर्वात्मा वासुदेव में विलय होने के लिए धावित होंगी और भगवान् भी शरणागत भक्त समर्पित सभी वृत्तियों को स्वीकार कर उनसे उत्पन्न हुए लोकों को चारों ओर से जब उनके प्रज्वलित मुखों से निगलते हुए चाट लेंगे तभी जीव भी दृश्य वस्तुओं से मुक्त होकर "सर्वप्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तम् अद्वैतम्" जो आत्मा है उसके साथ एकत्व अनुभव कर जन्म-मृत्युरूप संसार से मुक्त हो सकते हैं। जीव और ब्रह्म का मिलन इस प्रकार ही सम्भव होता है, यह स्पष्ट करने के लिए भगवान् भी अर्जुन को कालरूपी विश्वरूप दिखा रहे हैं। भगवान् विष्णु हैं अर्थात् सर्वव्यापी हैं। अतः उनका प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके ही स्थित है किन्तु जब वे भक्त के प्रति कृपा कर मायारचित सभी दृश्यों को अपने में समेट लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं तब वह तेज अज्ञानी की दृष्टि से होता है प्रचण्ड (अत्यन्त उग्र) एवं समस्त जगत् उससे संतप्त हो रहा है ऐसा प्रतीत होता है। अर्जुनरूपी जीव जब तक अपने व्यक्तित्व को भगवान् से पृथक् रखकर भगवान् की प्रलयमूर्ति देखते हैं तब तक ही भय तथा संताप की संभावना है और जब उस

जीवत्व को भी भगवान् निगलते हुए चाट लेते हैं तब जीव परमानन्द समुद्र में डूब जाने के कारण सर्वभय एवं संताप से मुक्त होकर केवल आनन्द ही नहीं प्राप्त होते हैं परन्तु स्वयं **आनन्दी**—हो जाते हैं।

अर्जुन ने अभी तक भगवान् के यथार्थ स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं जाना। इसलिए ही भगवान की कालरूपिणी भयंकर मूर्ति देखकर उसको संवरण कर शान्त मूर्ति धारण करने के लिए प्रार्थना की। भगवान् को आश्रय कर माया से सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप विश्वनाटक का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चल रहा है। इससे भगवान के स्वरूप की न तो हानि और न तो वृद्धि होती है। श्रुति भी कहती है **"न कर्मणा हीयते न वर्द्धते"** (वृह० उ०)। इस तत्व को जो जानता है वह भयंकर दृश्य देखकर कभी विचलित या भयभीत नहीं होता है और शान्त मूर्ति देखकर भी उसकी प्रसन्नता नहीं होती है क्योंकि वह जानता है कि दोनों ही माया है। इस प्रकार महत्-क्षुद्र, भयंकर-शान्त, सुन्दर-कुत्सित, अनुकूल-प्रतिकूल इत्यादि सभी दृश्य पदार्थों में एक ही भगवान् निर्विकार रूप से स्थित हैं, इस प्रकार निश्चय बोध (ज्ञान) जिसको होता है वह सर्वभय से मुक्त होकर सर्वत्र एक आनन्दस्वरूप की ही लहर देखता है एवं आनन्द में भरपूर हो जाता है। अर्जुन को इस अवस्था की प्राप्ति अभी बाकी है।

[इस प्रकार भयंकर रूप देखकर अर्जुन को जानने की इच्छा हुई इस उग्ररूप कौन है अर्थात् इसका स्वरूप क्या है ? इसलिए कह रहे हैं—]

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—उग्ररूपः भवान् कः मे आख्याहि हे देववर ! नमः अस्तु प्रसीद; आद्यं भवन्तं विज्ञातुम् इच्छामि; हि तव प्रवृत्तिं न प्रजानामि।

अनुवाद—हे देवश्रेष्ठ ! मुझे बतला दो कि उग्ररूप (भयंकर आकारवाले) तुम कौन हो ? तुमको नमस्कार हो, तुम मुझपर प्रसन्न हो। मैं सबके आदिकारणरूप तुम परमेश्वर को विशेषरूप से (भली प्रकार) जानना चाहता हूँ क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्ति (चेष्टा) को मैं नहीं समझ रहा हूँ।

भाष्यदीपिका—उग्ररूपः भवान् कः मे आख्याहि—मुझे (अत्यन्त कृपापात्र मुझको) तुम यह बताओ कि इस प्रकार के उग्ररूप (क्रूर अर्थात् भयंकर आकारवाले) तुम कौन हो। [किसी से कोई तत्त्व जानने की इच्छा होनेपर उनके निकट विनयपूर्वक शिर को नत करना आवश्यक होता है, नहीं तो उनके उपदेश धारण करने की सामर्थ्य नहीं होती है, इसलिए अर्जुन कहते हैं—]

हे देववर ! नमः अस्तु, प्रसीद—हे देवों में प्रधान [तुम तो सबका ही गुरु हो अतः] तुमको नमस्कार हो। तुम मुझे प्रसाद कीजिये अर्थात् क्रूरभाव का त्याग कर मेरे प्रति प्रसन्न होकर अनुग्रह (कृपा) कीजिए। [तुम देवता के भी देवता हो अतः तुम्हारे वर्तमान क्रूरभाव को त्यागकर प्रसन्नमूर्ति धारण करना तुम्हारे लिए ऐसा कोई कठिन कार्य नहीं है-यह कहने के अभिप्राय से भगवान को अर्जुन 'देववर' शब्द से सम्बोधन किया है।] **आद्यम् भवन्तम् विज्ञातुम् इच्छामि**—आदौ भवम् इति आद्यम् अर्थात् जो सबके आदि है अर्थात् सभी कारण का भी कारण है वह 'आद्य' है।] तुम सबके आदिकारण (आदिपुरुष) हो अतः तुमको [सृष्टि के आदि में होनेवाले तुम परमेश्वर को अर्थात् तुम्हारे यथार्थस्वरूप को] विशेषरूप से जानना चाहता हूँ। **हि तव प्रवृत्तिम् न प्रजानामि**—क्योंकि तुम मेरे प्रिय सखा होनेपर भी मैं तुम्हारी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा को प्रकृष्टरूप से अर्थात् पूर्णरूप से नहीं जानता हूँ [अर्थात् इस प्रकार उग्र (भयंकर) विश्वरूप की प्रवृत्ति (अभिप्राय) क्या है उसे मेरी बुद्धि समझ नही पा रही है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[जब कि ऐसा है, इसलिए-]**आख्याहि मे कः भवान् उग्ररूपः इत्यादि**—इसप्रकार उग्र (भयंकर) रूपवाले [आकारवाले] तुम कौन हो ? यह मुझे बताओ। तुमको नमस्कार हो। हे देवश्रेष्ठ ! तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ। तुम आदि पुरुष हो अर्थात् सबका आदि कारण हो, इसलिए तुमको विशेष-रूप से मैं जानना चाहता हूँ क्योंकि तुम्हारी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टा को अर्थात् तुम किस प्रयोजन से इस प्रकार की प्रवृत्ति (चेष्टा) कर रहे हो, यह मैं नहीं जानता हूँ अथवा इस प्रकार के भयंकर रूप तथा चेष्टावाले तुम्हारी प्रवृत्ति-अर्थात् वार्ता को और इसप्रकार रूप धारण करने का क्या प्रयोजन है इस वार्ता को भी मैं नहीं जानता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—[जिस कारण से कल्पान्त में प्राणियों को कालान्तक (सर्वनाशक यम) के समान महान्-महान् वीर पुरुषों को भी प्रज्वलित मुखों से तुम निगल रहे हो, यह विचारने पर तुम्हारा यह कृत्य (कार्य) बड़ा ही अद्भुत प्रतीत होता है। इसलिए तुम कौन हो, यह मैं पुछना चाहता हूँ। अतः मुझसे तुम अपने यथार्थ-स्वरूप को कहो—ऐसा अर्जुन अब बोल रहे हैं—] **हे देववर**—हे देवताओं में श्रेष्ठ पुरुष **ते नमः अस्तु, प्रसीद**—तुमको नमस्कार हो (तुमको नमस्कार कर मैं प्रार्थना कर रहा हूँ) तुम प्रसन्न होओ अर्थात् उग्रता का त्याग कर तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ **उग्ररूपो भवान् कः, मे आख्याहि**—[उग्र के (प्रलयकाल के रुद्र के) रूप के समान जिसका (आकार) है वह उग्ररूप है अथवा उग्र अर्थात् सब लोकों को जिसका रूप भय देता है वह उग्ररूप है।] उग्ररूप (भयंकर रूपवाले) तुम कौन हो ? तुम प्रलयकाल हो या प्रलय-अग्नि हो या महामृत्यु हो या कालान्तक हो या परम पुरुष हो या अन्य कोई हो ? तुम्हारे अपने स्वरूप को और अपनी प्रवृत्ति को मुझे कहो **आद्यम् भवन्तम् विज्ञातुम् इच्छामि**—[सब ओर से खाने के लिए जो प्रवृत्त है वह 'आद्य' है अथवा जो आदि में उत्पन्न है वह 'आद्य' है।] 'आद्य' अर्थात् जगत् का संहार करनेवालों में अग्रसर (प्रवृत्त) अथवा जगत् के आद्य परमेश्वर स्वरूप तुमको मैं जानना चाहता हूँ, अतः मुझे कहो अर्थात् तुम्हारा स्वरूप मैं यथार्थ रूप से जैसे जान सकता हूँ इस प्रकार से कहो। यदि शंका हो कि मेरे स्वरूप को अर्थात् विश्वरूप को और मेरी चेष्टा को देख कर तुम जान सकते हो कि मैं कौन हूँ, अतः 'को भवान्' (तुम कौन हो) इस प्रकार के प्रश्न का कोई अर्थ नहीं होता है, तो इस पर कहते हैं—कि **तव प्रवृत्तिम् न प्रजानामि**—क्योंकि मैं मनुष्य और अल्पज्ञ हूँ इस कारण से तुम्हारी प्रवृत्ति को मैं प्रकृष्टरूप से (भली प्रकार से) नहीं जान सकता हूँ, इसलिए तुम्हीं तुम्हारे स्वरूप को तथा प्रवृत्ति को मुझे कहो।।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् के इस प्रकार के रूप का तात्पर्य तथा उनकी प्रवृत्ति का (चेष्टा का) तात्पर्य अर्जुन नहीं जानते हैं, इसलिए उसे भगवान् के अपने मुख से सुनने की इच्छा व्यक्त कर अर्जुनने कहा 'तुम तो देवताओं में भी श्रेष्ठ हो'

अर्थात् सर्व देवताओं के भी आदि कारण हो। अतः देवता भी तुम्हारा यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकते, इसलिए तुम मुझे कृपा कर यह बताओ कि इसप्रकार के उग्ररूप अर्थात् कालरूपी भयंकर आकृति वाले तुम कौन हो ?" जबतक जीव भगवान् के चरण-कमल में अपना सिर झुकाकर शरणागत नहीं होता है तबतक अन्तर्यामी भगवान् अपने स्वरूप का परिचय नहीं देते हैं। इसलिए अर्जुन कह रहे हैं–तुम सबके गुरु हो अर्थात् तुम्हारी कृपा बिना किसी के अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश नहीं हो सकता है। अतः तुमको नमस्कार है–तुम मेरे प्रति प्रसन्न होओ अर्थात् उग्रता का त्यागकर मेरे भय एवं संताप को दूर करो। मैं सबके आदि कारणरूप अथवा सब ओर से खाने के लिए जो प्रवृत्त हुआ है उस रूप को विशेषरूप से जानना चाहता हूँ। [आद्य शब्द का अर्थ इस प्रकार है–आद्यः = आदौ भव जो आदि में उत्पन्न ईश्वर स्वरूप है वह आद्य है अर्थात् जो सबके आदि में (पहले उत्पन्न है अथवा आद्यः = आ (समन्तात्) अत्तुं प्रवृत्तः अर्थात् सब ओर से सबको खाने के लिए जो प्रवृत्त है वह आद्य है अर्थात् जो सर्व-संहार-कर्ता है वह आद्य है]। यदि तुम कहो कि तुम्हारी चेष्टा को देखकर तुम कौन हो, मैं यह जान सकता हूँ तब इसप्रकार की शंका भी निरर्थक होगी क्योंकि जब तुम्हारी कृपा बिना देवता भी तुम्हारा स्वरूप नहीं जान सकते हैं तब मैं तो मनुष्य हूँ और अल्पज्ञ भी हूँ, इसलिए तुम्हारा सखा होते हुए भी तुम्हारी प्रवृत्ति को प्रकृष्ट रूप से (भलीभाँति) जान लेने की सामर्थ्य मेरी नहीं है, अतः तुम स्वयं ही मुझे कहो। अनन्त भगवान् का यथार्थ स्वरूप अन्तवान् (विनाशशील) अल्पज्ञ जीव कैसे जान सकता है ? अतः अर्जुन की प्रार्थना युक्त (संगत) ही है।

जबतक जीव भगवान् के यथार्थ स्वरूप तथा प्रवृत्ति के सम्बन्ध में संशय से शून्य निश्चितबुद्धि प्राप्त नहीं होता है तबतक भगवान् के प्रति श्रद्धा, विश्वास तथा भक्ति भी पूर्ण नहीं हो सकती है, अतः भगवान् के साथ पूर्ण मिलन भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए ही भगवान् के स्वरूप को प्रकृष्ट रूप से जानने के लिए अर्जुन ने प्रार्थना की है। यह ही श्लोक में **"न हि प्रजानामि"**—पद का तात्पर्य है।

[अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर श्रीभगवान् अब तीन श्लोकों में दे रहे हैं–]

श्रीभगवान् उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच—(अहम्) लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि । लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः । प्रत्यनीकेषु ये योधाः अवस्थिताः (ते) सर्वे अपि त्वाम् ऋते न भविष्यन्ति ।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा–मैं काल हूँ । लोकों का क्षय (नाश) करने के लिए मैं अव प्रवृद्ध (प्रकृष्टरूप से वृद्धि प्रात अर्थात् भलीभाँति बढ़ा हुआ) हूँ । मैं यहाँ (अव) लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । तुम्हारे युद्ध न करने पर भी यहाँ प्रतिपक्षियों की सेना में जो-जो योद्धा उपस्थित हैं वे सब बचेंगे नहीं अर्थात् वे सब ही मरेंगे ।

भाष्यदीपिका—**श्रीभगवान् उवाच**—श्रीभगवान् ने कहा । **लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि**—मैं लोकों का नाश करनेवाला प्रवृद्धः (बढ़ा हुआ) काल हूँ [क्रिया शक्ति से उपहित अर्थात् क्रियाशक्तिविशिष्ट होकर सबका संहार करने वाला परमेश्वर हूँ–मधुसूदन] मैं जिस लिए बढ़ा हुआ हूँ वह सुनो । **इह लोकान् समाहर्तुम् प्रवृत्तः**—इस समय में लोकों का संहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हूँ । [इस समय में दुर्योधनादि सम्पूर्ण लोगों का समाहार अर्थात् सम्यक् प्रकार से आहार [भक्षण] करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ । यदि अर्जुन कहे कि "मेरी प्रवृत्ति के बिना ऐसा कैसे होगा" तो भगवान् कहते हैं–(मधुसूदन)] **प्रत्यनीकेषु ये योधाः अवस्थिताः**—भीष्म, द्रोण प्रभृति शूरवीर योद्धा लोग जिनसे तुम्हारी आशंका हो रही है अर्थात् पूजनीय होने के कारण ये युद्ध के योग्य नहीं हैं ऐसा तुम सोच रहे हो वे सब प्रत्यनीक अर्थात् प्रत्येक विपक्षी सेना में अवस्थित हैं अर्थात् युद्ध करने के लिए डटे हुए हैं । **ते सर्वेऽपि त्वाम् ऋते न भविष्यन्ति**—वे सभी तुम्हारे बिना भी अर्थात् तुम्हारे युद्ध न करने पर भी नहीं रहेंगे अर्थात् वे सभी मेरे द्वारा मारे गए हैं, अतः वे बच नहीं सकते ! अतः इसमें तुम्हारा व्यापार (युद्ध से उपरतिरूप क्रिया इस व्यापार में

अर्थात् उन लोगों को बचाने के लिए अकिंचितकर असमर्थ) है। तुम योद्धा अर्जुन हो, तुम्हारे व्यापार के (युद्धरूप क्रिया के) विना भी ये नहीं रहेंगे अर्थात् ये सब विनष्ट हो जायेंगे (मधुसूदन)]। कहने का अभिप्राय यह है कि विपक्ष सेना में अवस्थित भीष्म, द्रोण आदि तुम्हारे पूज्य होने के कारण उनके साथ युद्ध करने के लिए तुम्हारी इच्छा नहीं है किन्तु तुम्हारे युद्धरूप व्यापार के विना भी मेरे व्यापार से ही (इच्छा से ही) कोई जीवित नहीं रह सकेगा क्योंकि वे सब ही मेरे द्वारा (मेरी कल्पना से) पहले ही निहत हो चुके हैं।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[इस प्रकार अर्जुन से प्रार्थना की जाने पर **"कालोऽस्मि"**—इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा भगवान् कहते हैं] श्रीभगवान् बोले—**लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालोऽस्मि**—मैं लोगों का नाश करने वाला प्रवृद्ध (बढ़ा हुआ) अति उग्र काल हूँ। **लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः**—लोकों (प्राणियों) को संहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हुआ हूँ। **त्वाम् ऋतेऽपि सर्वे न भविष्यन्ति**—अतः तुम्हारे बिना भी अर्थात् तुम इन लोगों को नहीं मारने पर भी ये सब नहीं रहेंगे अर्थात् नहीं बचेंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि तुम्हारे द्वारा ये लोग मारे जाने योग्य नहीं हैं तथापि मुझ काल स्वरूप के द्वारा वे लोग मेरे ग्रास बन गये हैं अतः वे मरेंगे ही। वे लोग कौन हैं? प्रत्यनीकों में (प्रतिपक्षियों की प्रत्येक सेना में) अर्थात् भीष्म द्रोणाचार्य आदि की जो पृथक् पृथक् सेनायें हैं उनमें जो जो योद्धा लोग स्थित हैं वे सभी अवश्य मरेंगे। [प्रत्यनीकेषु = अनीकानि प्रति अर्थात् प्रतिपक्षीय प्रति (प्रत्येक) सेना-सेना में (अवस्थित)]।

(२) शंकरानन्द—अपना स्वरूप कैसा है और अपनी प्रवृत्ति क्यों हो रही है यह कहने के लिए श्रीभगवान् बोले—**लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि**—लोकों का अर्थात् भूमि के भाररूप प्राणियों का जो क्षय (नाश) करता है वह **लोकक्षयकृत्**—है। मैं लोकक्षयकृत् (लोगों का विनाश करने वाला) **प्रवृद्धः**—(प्रचण्ड) काल हूँ। अर्थात् सब प्राणियों के संहार का हेतु जो काल है वह मैं हूँ। इससे अपने स्वरूप का ख्यापन (वर्णन) कर अब अपनी प्रवृत्ति के उद्देश्य कह रहे हैं—

इह लोकान् समाहर्तुम् प्रवृत्तोऽस्मि—यहाँ अर्थात् इस युद्ध क्षेत्र में समवेत (एकत्र हुए) लोकों का (जनों का) संहार करने के लिए मैं प्रवृत्त हूँ।

शंका—युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित लोकों के संहार के लिए तुम्हारे प्रवृत्त होने पर भी मेरे बिना अर्थात् मेरे युद्ध से विरत होने पर तुमसे यह संहार नहीं किया जा सकेगा। इस पर भगवान् कहते हैं **प्रत्यनीकेषु अवस्थिताः सर्वे त्वाम् ऋतेऽपि न भविष्यन्ति**—प्रत्यनीक में (प्रतिपक्ष की सेनाओं में) अवस्थित (युद्ध के लिए तैयार होकर विद्यमान) भीष्म, द्रोण, कर्ण और अन्य सब योद्धा जो तुम्हारे लिए दुर्जय हैं वे सब तुम्हारे बिना भी अर्थात् तुम्हारे युद्ध में प्रवृत्त न होने पर भी नहीं रहेंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि मुझ महामृत्यु के सम्यक् प्रकार उपस्थित होने पर (मेरी उपस्थिति में) कौन जीवित रह सकेंगे अर्थात् सभी मर जायेंगे।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन की प्रार्थना सुनकर भगवान् अपने स्वरूप को तथा अपनी प्रवृत्ति की चेष्टा का उद्देश्य कहने लगे—मैं लोकों का क्षय (नाश) करने के लिए प्रवृद्ध (विशेषरूप से बढ़ा हुआ) काल हूँ। मैं अब लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। जगत् की सभी घटना काल में समाप्त हो जाती है। अतः काल ही उग्ररूप से (निष्ठुर भाव से) सदा सर्वदा सब वस्तुओं को ग्रास कर रहा है। फिर काल ही सर्ववस्तु की पृथक् पृथक् रूप से प्रतीति कराता है और काल में ही सब वस्तु समाप्त होकर भावीबीजरूप में अवस्थान करती है अर्थात् काल में ही सृष्टि, काल में स्थिति एवं काल में ही सब वस्तु का लय हो जाता है। इसलिए काल को ईश्वर कहा जाता है किन्तु जब यह कालरूपी ईश्वर सबका संहार एक साथ करने के लिए प्रवृत्त होता है तब उनका रूप तत्वदर्शी पुरुष के बिना सभी व्यक्तियों में आतंक (भय) एवं संताप (दुःख) की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार सर्व लोकों का क्षय (नाश) करने वाली मूर्ति का दर्शन बहुत ही सुकृति के फलों से होता है क्योंकि भगवान् जब सब अपने में समेट लेते हैं तभी जीव ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप जानकर उसमें डूब जा सकता है। सृष्टि के साथ साथ सृष्टि का नाश भी अर्थात् मृत्यु अनवरत ही (सदा ही) हो रही है परन्तु विश्व नाटक में यह नाश दो प्रकार से होता है। (१) व्यक्तिगत मृत्यु या नाश की ओर गति धीरे-धीरे प्रारब्ध का क्षय होने से समय की अपेक्षा कर होती

है। (२) समूह की मृत्यु या नाश एक साथ होती है। दोनों नाश ही ईश्वर के अधीन है अर्थात् विश्वसृष्टि के साथ पहले भगवान् ने जिस नाटक की कल्पना की, उसी के अनुसार ही व्यक्ति का या समूह का (व्यष्टि का या समष्टि का) नाश अवश्य होगा। इस नाटक का परिवर्तन किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। भगवान् यहाँ समष्टि का नाश दिखलाकर यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जो भक्त मेरे शरणागत है उनके भी समस्त लोक अर्थात् बाहर के दृश्यों एवं भीतर की वृत्तियाँ सभी में समाहार (भक्षण) करके मेरे भक्त को सर्व पाप से मुक्त कर देता हूँ (गीता १८।६६)। इसी अवस्था में भक्त को कोई साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। अन्तर्यामी रूप में एक ईश्वर ही सबकी बुद्धि को प्रेरणा देकर कठपुतली की भाँति नचा रहे हैं अर्थात् सभी जीव उनकी प्रेरणा से अवश होकर यन्त्रवत् काम कर रहे हैं इसलिए भगवान् के विश्व नाटक में जो जो घटनाएँ कल्पित हैं उनको अन्यथा कोई नहीं कर सकता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए अर्जुन को भगवान् कह रहे हैं कि तुम्हारे युद्ध न करने पर भी यह अर्थात् इस युद्ध-क्षेत्र में प्रतिपक्षियों की सेना में जो भी योद्धा उपस्थित हैं वे सब बचेंगे नहीं "अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा" इसप्रकार की तुम्हारी कल्पना निरर्थक है क्योंकि (१) युद्ध तुमको अवश होकर ही करना पड़ेगा (गीता १८।५९-६१)। (२) यदि तुम युद्ध नहीं भी करो तो भी जो होना है वही होगा, उसको नहीं रोक सकोगे। तुम्हारी चेष्टा के बिना ही देखो, मेरे मुखों में यहाँ युद्ध करने के लिए उपस्थित सभी वीर प्रवेश कर रहे हैं। भगवान् ने अर्जुन को कालरूपिणी विश्वमूर्ति दिखाकर एवं अपने स्वरूप का परिचय देकर अर्जुन को स्पष्टरूप से यह बतलाया कि भीष्म, द्रोण आदि पूजनीय व्यक्तिओं की (जिनको अर्जुन मारना चाहते थे) इस युद्ध में मृत्यु अवश्यंभावी है तथा कर्णादि अन्य सभी वीर लोग जिनको अर्जुन मारने के लिए उद्योग कर रहे थे वह भी मृत्यु के गाल में पड़े हैं। चाहे भीष्म, द्रोण, आदि को बचाने के लिए तथा कर्णादि वीरों के नाश के लिए अर्जुन चेष्टा करे या न करे उन सबकी मृत्यु अवश्यंभावी एवं अनिवार्य है। भगवान् की इच्छा के अनुसार ही जो कुछ होना है वही होता है। मैं केवल भगवान् के हाथ में यन्त्रमात्र हूँ। इसप्रकार बोध न होने तक अहंकार की निवृत्ति नहीं होती है। और अहंकार का नाश न होने तक भगवान् में एकान्त शरणागति सम्भव नहीं है और

शरणागति के बिना मोक्षलाभ असम्भव है। इसलिए भगवान् ने कृपा करके अपने परमभक्त अर्जुन को विश्वरूप दिखा कर उनके हृदय में यह बोध (ज्ञान) का प्रदीप जला दिया जिससे वे अहंकार से मुक्त होकर भगवान् को प्राप्त कर सकें। यह ही इस श्लोक का तात्पर्य है।

[तुम्हारी चेष्टा के बिना ही जब वे लोग अवश्य ही विनष्ट हो जायेंगे तब स्वधर्म पालन से तुम विरत होने के लिए चेष्टा क्यों कर रहे हो ? अतः—]

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अन्वय—तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ, यशः लभस्व, शत्रून् जित्वा समृद्धम् राज्यं भुंक्ष्व। हे सव्यसाचिन् ! मया एव एते पूर्वम् एव निहताः, त्वं निमित्तमात्रं भव।

अनुवाद—इसलिए हे अर्जुन ! तुम युद्ध के लिए खड़े हो जाओ एवं शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त करो तथा समृद्ध (वैभवपूर्ण) निष्कंटक राज्य का भोग करो। ये सब मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए हैं अर्थात् मैंने तो पहले ही इन्हें मार रखा है। तुम (इनको मारने के लिए) केवल निमित्तमात्र बन जाओ।

भाष्यदीपिका—तस्मात्—इसलिए अर्थात् तुम्हारे युद्ध नहीं करनेपर भी ये सब नष्ट हो ही जायेंगे अर्थात् मरेंगे इसलिए **त्वम् उत्तिष्ठ**—तुम खड़े हो जाओ अर्थात् युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। **यशो लभस्व**—"देवता लोग भी जिनको जीत नहीं सकते हैं ऐसे भीष्म, द्रोण आदि महारथियों को अर्जुन ने जीत लिया, इस प्रकार का निर्मल यश प्राप्त करो। ऐसा यश तो महान पुण्य से ही प्राप्त होता है। **शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व**—और दुर्योधनादि शत्रुओं को अनायास ही जीतकर समृद्ध अर्थात् शत्रुहीन निष्कंटक राज्य का भोग करो। [प्रश्न होगा भीष्म आदि अतिरथी समूह जीवित रहने पर मेरी जय की आशा किस प्रकार से सम्भव होती है ? इस पर कहते हैं—] **मया एव एते पूर्वम् एव निहताः**—ये सब शूरवीर मेरे द्वारा पहले ही **नि**—(निश्चय रूप से) **हताः**—हत हुए हैं अर्थात् मरे हुए हैं। तुम्हारे

विपक्षीय शत्रु की एवं स्वपक्षीय वीरों की आयु की समाप्ति होने के कारण कालरूपी मैंने तो पहले ही उन्हें मार रखा है। लौकिक दृष्टि से "अर्जुन ने इन्हें युद्ध में मार दिया"। इस प्रकार तुम्हें केवल यश प्राप्त कराने के लिए ही अभी तक रथ से इन लोगों को नीचे नहीं गिराया। अतः हे **सव्यसाचिन्! निमित्तमात्रं भव**—हे सव्यसाची अर्जुन! [जिसका स्वभाव **सव्य**—(बायें हाथ से) भी **सचित**—(बाणों को सन्धान) करने का है वह सव्यसाची है। इस प्रकार सव्यसाची तुम्हारे लिए भीष्म, द्रोणादि पर विजय प्राप्त करना असम्भव नहीं है। अतः तुम युद्ध शुरू करने के पश्चात् मेरे द्वारा इनके गिराये जाने पर लोग इस विजय में तुम्हारे कर्त्तृत्व की ही कल्पना करेंगे। अतः मेरे द्वारा ही ये सब प्राणविहीन होने पर भी] तुम केवल इस कार्य में निमित्तमात्र बन जाओ अर्थात् केवल लौकिक दृष्टि से तुम इन सबकी मृत्यु का निमित्त कारण बन जाओ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[जब कि यह बात है–] **तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ इत्यादि**—इसलिए तुम युद्ध करने के निमित्त खड़े हो। "देवों के भी दुर्जय अर्थात् देवताओं के लिए भी जिन पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है उन भीष्म, द्रोण आदि वीरों को अर्जुन ने जीत लिया" ऐसे यश को प्राप्त करो एवं शत्रुओं को अनायास ही जीत कर समृद्धिशाली राज्य का भोग करो। **मया एव एते निहताः पूर्वम् एव**—ये तुम्हारे सब शत्रुगण युद्ध के आरम्भ होने के पहले ही मुझ कालस्वरूप के द्वारा ही प्रायः मार दिए गये हैं। तो भी हे सव्यसाची! तुम निमित्तमात्र बन जाओ। **'सव्येन वामहस्तेन साचितुं शरान्संधातुं शीलं यस्येति'**—अर्थात् बायें हाथ से भी बाणों का सन्धान करने का जिसका स्वभाव है वह सव्यसाची है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्जुन सव्यसाची नाम से कहा जाता है क्योंकि वे वाम हस्त से भी बाण चला सकते थे।]

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार अपने स्वरूप को और अपनी प्रवृत्ति को कहकर उसका फल क्या है वह अब आप कहते हैं। **तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ**—इसलिए [महामृत्युरूप मेरे द्वारा ही ये सब मर जायेंगे ऐसी परिस्थिति में 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस प्रकार तुम्हारी युद्ध में प्रवृत्ति का न होना निष्फल (निरर्थक) है। इसलिए]

युद्ध के लिए तुम खड़े हो जाओ। तैयार होओ। **यशो लभस्व**—यश प्राप्त करो अर्थात् देवतादि भी जिनको नहीं जीत सके ऐसे भीष्मादि को अर्जुन ने जीत लिया इस प्रकार के यश (कीर्ति) को प्राप्त करो **शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व**— दुर्योधनादि शत्रुओं को जीतकर जय प्राप्त हुए **समृद्ध**—(सर्वैश्वर्यसम्पन्न) राज्य का उपभोग करो। भीष्म आदि अतिरथियों के रहते हुए शत्रुओं का जीतना अत्यन्त कठिन है, अर्जुन की इस शंका को दूर करने के लिए भगवान् कह रहे हैं कि **मया एव एते पूर्वम् एव निहताः**—यद्यपि शस्त्र, अस्त्र, बल और पराक्रमरूप सम्पत्ति से सम्पन्न भीष्मादि पर विजय पाना कठिन है तथापि तुम्हारी युद्ध में प्रवृत्ति के पहले ही मैंने इन लोगों के तेज, बल और पौरुष को खींचकर इन्हें निस्सार करके मार दिया अर्थात् पुराने पत्ते के समान रथ से पतन के लिए इन्हें तैयार कर दिया है। हे सव्यसाचिन्– हे अर्जुन ! [बायें हाथ से बाणों का प्रयोग का जिसका शील (स्वभाव) है वह सव्यसाची है।] **निमित्तमात्रं भव**—पत्ते के गिराने में जैसे वायु निमित्त है, ऐसे ही इन सब वीरों के गिराने में तुम निमित्त हो जाओ। मैं ही सब कर चुका हूँ अतः उसमें तुम्हारे कोई विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है।

(३) **नारायणी टीका**—सृष्टि से प्रलय तक जिस देश में जैसी घटनाएँ होती हैं वे सभी सृष्टि के पहले ही सत्यसंकल्प सर्वात्मा भगवान् द्वारा निर्दिष्ट (निश्चित) हुई हैं। इसलिए ऋग्वेद में कहा गया है **यथापूर्वम् अकल्पयत्**–चलचित्र के रील (Reel) में जो कुछ खचित है वह ही दर्शक को देखना पड़ता है उसी प्रकार भगवान् की कल्पना से (मायाशक्ति से) पहले ही सृष्ट हुए जगत् का चित्र भी एक के बाद एक दिखाई पड़ता है। इस चित्र को बदलना या अन्यथा करना किसी की शक्ति के अधीन नहीं है। अतः जगत् की कोई घटना किसी मनुष्य की इच्छा या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती है अर्थात् सभी स्वतः ही सम्पन्न होता है। जीव जबतक अहंकार से विमूढ़ होकर अपने को कर्ता, धर्ता, भोक्ता मानता है, तबतक इस तत्त्व को नहीं जानता है। इसलिए अर्जुन के अज्ञानजनित अहंकार की निवृत्ति करने के लिए भगवान् ने कालरूप से प्रकट होकर स्पष्ट रूप से दिखाया कि किसी को मारना या बचाना कोई मनुष्य का कर्तव्य नहीं है। वह सम्पूर्णरूप से भगवान् के संकल्प के अधीन है।

जिस प्रकार नाटक में रावण की सीताहरण रूप क्रिया को निमित्त कर रावण की मृत्यु पहले ही निश्चित की गई थी, उसी प्रकार किस निमित्त से किसकी किस समय में मृत्यु होगी वह भी पहले से विश्व नाटक में (भगवान् के संकल्प में) निश्चित हुआ है। इसलिए भगवान् ने अर्जुन को पूर्ववर्ती श्लोक में कहा है कि "तुम्हारे युद्ध न करने पर भी ये सब योधा नहीं बचेंगे।" अन्त में सब का नाश दिखा कर भगवान् कह रहे हैं कि जिन सब योधाओं को युद्धक्षेत्र में अब तुम जीवित देख रहे हो वे सब पहले ही मुझसे निश्चित रूप से हत (प्राणहीन) हो गये हैं। इस विश्वनाटक में प्रत्येक प्राणी मुझसे निर्धारित अपना अपना अभिनय मेरी प्रेरणा से ही कठपुतली के समान अवश होकर कर रहा है अर्थात् सभी निमित्तमात्र होकर इस विश्वनाटक को सम्पन्न कर रहे हैं। इस नाटक में किसी को मैं चोर बनाता हूँ और किसी को साधु—किसी को मैं यश दिलाता हूँ और किसी को अपमान। जो इस तत्त्व को यथार्थ रूप से जानता है उसके हृदय में इस व्यापार में कोई आसक्ति नहीं रहती है क्योंकि वह अहंकार से मुक्त होकर जान लेता है कि मैं ही इस नाटक को बनानेवाला और मैं ही सर्वरूप में अभिनय करने वाला और मैं ही सबको प्रेरणा देने वाला हूँ अतः मेरी यह अद्भुत लीला देख कर मेरे भक्त सर्वत्र मेरी सत्ता ही अनुभव कर सदा ही देह इन्द्रियाँ बुद्धि इत्यादि में आत्मबुद्धि से शून्य होकर आनन्दस्वरूप की लीला देखकर आनन्द में डूब जाता है। अज्ञानी मनुष्य ही देह-इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि कर मेरी लीला में दोष आविष्कार करते हैं एवं दुःख, शोक इत्यादि से आच्छन्न हो जाते हैं। नाटक में पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, सुख-दुःख का बोध नहीं रहता है। नाटक में कोई चोर का अभिनय (Part) करे कि साधु का अभिनय (Part) करे दर्शक किसी में दोष दर्शन नहीं करते हैं कारण वह जानता है कि वह जो कुछ कर रहा है नाटक की पुस्तक में जैसा लिखा है उसी के अनुसार ही अस्वतन्त्र भाव से अभिनय करता है, एवं अपना अपना अभिनय सावधानतापूर्वक पूर्णरूप से सम्पन्न कर आत्मप्रसाद (आनन्द) अनुभव करता है। इसी प्रकार जो भक्त अहंकार का बलिदान करके भगवान् के चरणकमल में शरणागत होता है वह भी भगवान् की प्रेरणा के प्रति अपनी दृष्टि रखकर जैसा भगवान् नचाता है ऐसे ही नाचता है—वह बुद्धिपूर्वक उस कार्य को नहीं करने के कारण उनकी दृष्टि में शुभ और अशुभ कुछ भी

नहीं रहता है अतः कोई कर्म का फल भी उनको भोगना नहीं पड़ता है जैसे कठ-पुतली का होता है। इसलिए अर्जुन को अब भगवान् कह रहे हैं कि 'मेरी प्रेरणा के अनुसार तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। तुमको इस नाटक में तुम्हारे लिए यशलाभ करने के उपयोगी अभिनय मैं पहले ही निर्धारित कर चुका हूँ अतः जो भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादि को पहले ही मैं संकल्प से मारचुका हूँ उनको लौकिक दृष्टि से तुम मारकर 'अर्जुन सर्वश्रेष्ठ वीर है' इसप्रकार का यश, शत्रु का जयकर के लाभ करो एवं समृद्ध अर्थात् शत्रुहीन निष्कंटक राज्य का भोग करो क्योंकि इस प्रकार जय, यश तथा भोग तुम्हारे लिए पहले ही मैंने निर्धारित किया है। तुम सव्यसाची हो अर्थात् बायें हाथ से भी तुम शर का सन्धान कर सकते हो। जिस प्रकार दाहिने और बायें दोनों हाथों से शर का सन्धान कर युद्ध करना असाधारण शक्ति का परिचय है उसी प्रकार मेरी प्रेरणा से शुभ या अशुभ अभिनय जो भक्त यन्त्रवत् कर सकता है वही जन्म-मृत्यु-रूप शत्रु को पराजित कर जीवन युद्ध में पूर्ण जयलाभ कर समृद्धि (द्वैतहीन) स्वाराज्य (मोक्ष) प्राप्त करके अनन्त यश (कीर्ति) लाभ करते हैं। यह ही इस श्लोक का तात्पर्य है।

[जिन जिन वीरों के बारे में अर्जुन की आशंका थी कि उनको पराजित करना सम्भव नहीं है श्रीभगवान् उनके नाम का उल्लेख कर अर्जुन को आश्वासन दे रहे हैं कि उनको तो मैंने पहले ही निहत कर रखा है अर्थात् वे सब पहले ही मर चुके हैं। अतः तुम युद्ध के लिए तैयार होओ]।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अन्वय—त्वं मया हतान् द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा अन्यान् अपि योधवीरान् जहि, मा व्यथिष्ठाः, युध्यस्व, रणे सपत्नान् जेता असि।

अनुवाद—मैं द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा दूसरे वीर योद्धाओं को भी मार चुका हूँ। तुम मेरे द्वारा मारे गए उन सब वीरों को मारो, भय से व्यथित (भयभीत) मत होओ। युद्ध करो, तुम संग्राम में शत्रुओं को अवश्य जीतोगे।

भाष्यदीपिका—**त्वं मया हतान् द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा अन्यान् अपि योधवीरान् जहि**–[द्रोण, भीष्म आदि जिन-जिन शूरवीरों से अर्जुन को आशंका थी अर्थात् जिनके कारण पराजय होने का भय था उन-उन का नाम लेकर भगवान् कहते हैं कि 'तुम मुझसे मारे हुए को मारो' इत्यादि उनमें से द्रोण और भीष्म से भय होने के कारण प्रसिद्ध (स्वाभाविक) ही है क्योंकि द्रोण तो दिव्य अस्त्र से युक्त एवं विशेषरूप से अर्जुन का सर्वोत्तम गुरु है तथा भीष्म तो सबसे बड़े हैं, स्वेच्छा मृत्यु और दिव्यास्त्र से सम्पन्न हैं। जो कि परशुराम से भी द्वन्द युद्ध करने पर भी उनसे पराजित नहीं हुए। ऐसे ही जयद्रथ भी है जिनके पिता इस उद्देश्य से तप करते हैं कि कोई मेरे पुत्र का शिर भूमि पर गिरायेगा, उसका भी शिर गिर जायेगा।' कर्ण भी बड़ा वीर है क्योंकि इन्द्र द्वारा दी हुई अमरशक्ति से सम्पन्न है और कुन्ति की कन्यावस्था में जन्मा हुआ सूर्य का पुत्र है, इसलिए उसके नाम का भी निर्देश किया गया है। [**मया हतान् त्वं जहि**–द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य शूरवीर योद्धा यथा दुर्जय कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा आदि महानुभाव वीरगण जो कि मेरे द्वारा मारे हुए हैं उनको तुम निमित्तमात्र होकर मारो। इन मारे हुए को मारने में क्या परिश्रम होगा। अतः **मा व्यथिष्ठाः युद्धस्व**–अतः व्यथित मत हो अर्थात् उनसे भय मत करो। "मैं ऐसा कैसे कर सकूँगा", इस प्रकार की व्यथा (भयजनित पीड़ा) को मत प्राप्त हो अर्थात् भय छोड़कर युद्ध करो।" **रणे सपत्नान् जेतासि**–तुम (शीघ्र ही) संग्राम में दुर्योधनादि शत्रुओं को जीतोगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—["न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः—(गीता २।६) यह कहकर अर्जुन ने जो शंका प्रकट की थी कि जय-पराजय इन दोनों में से कौन हमलोगों के लिए अधिक श्रेयस्कर है, इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि–] द्रोणं च भीष्मं च इत्यादि–जिन से तुम शंकित रहते हो उन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण आदि अन्य सब वीर योद्धाओं को जिन्हें मैं पहले ही मार चुका हूँ उनको तुम मारो। **मा व्यथिष्ठाः युध्यस्व**—व्यथित न हो अर्थात् भय मत करो। भयशून्य होकर युद्ध करो। **सपत्नान् रणे जेतासि**—रणक्षेत्र में (युद्धस्थल में) तुम शत्रुओं को निश्चित ही जीतोगे।

(२) **शंकरानन्द**—[पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा है उस अर्थ की ही सन्देह-निवृत्ति के लिए विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं-] **द्रोणं च भीष्मं च इत्यादि**—द्रोण, भीष्म, कर्ण और जयद्रथ तथा भगदत्त, सौमदत्ति आदि अन्यान्य वीर योद्धाओं जिनके तेज बल और पौरुष मेरे द्वारा छीने जाने पर मुझ से मारे गए हैं अर्थात् हतप्राय हैं तुम उनको मारो अर्थात् बाणों से गिरा दो। **मा व्यथिष्ठाः**—उन लोगों को मारते समय तुम व्यथित (भयभीत) मत हो। द्रोण दिव्यास्त्र से सम्पन्न है, दिव्यास्त्र-सम्पन्न भीष्म स्वेच्छा से मरने वाला है, कर्ण सम्पूर्ण वीर्य-शक्ति से पूर्ण है और सैन्धव (जयद्रथ) पिता के वरदान से अवध्य है, इस प्रकार सोचकर किसी प्रकार की भी व्यथा (भय) मत करो। **सपत्नान् रणे जेता असि**—तुम मेरे अनुग्रह से रण में (युद्ध क्षेत्र में) सपत्नों को अर्थात् दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीतोगे। इस विषय में संशय मत करो। इसलिए **युध्यस्व**—युद्ध करो। [भगवान् ने यहाँ जो कुछ कहा वह विधिवाक्य नहीं है–मुक्ति का कारण ज्ञान है, ज्ञान का कारण चित्तशुद्धि है, एवं चित्तशुद्धि का कारण स्वधर्म का अनुष्ठान है, ऐसा सूचित कर कहते हैं **"युध्यस्व"** अर्थात् अपना स्वधर्म उचित युद्ध करो अर्थात् अपना स्वधर्मरूप जो युद्ध है उसमें प्रवृत्त हो। इससे ऐसा सूचित होता है कि भक्ति से सम्यक् प्रकार से आराधित परमेश्वर अपने भक्त के दुर्लभ कार्य को भी सुलभ कर देते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् ने कहा कि द्रोण भीष्मादि सभी वीरों को मैं पहले ही मार चुका हूँ इसलिए तुम अनायास ही इन सबको जीत सकोगे। अर्जुन के मनमें इस प्रकार का संशय उत्पन्न हो गया कि जो लोग अमर हैं अथवा अजेय हैं वे कैसे पहले ही मर चुके अथवा मैं इनको कैसे जीत लूंगा–क्या मैं ये जो कुछ देख रहा हूँ यह सब मेरे मन का भ्रम तो नहीं है क्योंकि असम्भव बात कैसे सम्भव हो सकती है। द्रोणाचार्य धनुर्वेद के आचार्य हैं और नानाविध दिव्य अस्त्रों से सम्पन्न हैं। और विशेष रूप से वे मेरे गुरु भी हैं। अतः मैं उनको कैसे जीतूँगा। भीष्म-पितामह अत्यन्त पूज्य हैं फिर जब तक वह अपनी इच्छा से मृत्यु को वरण न करे तब तक उनकी मृत्यु भी नहीं हो सकती। अधिकन्तु परशुराम भी उनको पराजित नहीं कर सके। इस अवस्था में उनका मैं कैसे जय कर

सकता हूँ। और जयद्रथ को पिता से ऐसा बल प्राप्त हो गया है कि जो उनके सिर को भूमि पर गिरा देगा उनका मस्तक भी उसी समय भूमि पर गिर पड़ेगा। फिर जयद्रथ महादेव की आराधना करके भी दिव्य अस्त्र सम्पन्न हुए हैं। अतः उनको भी पराजित करना एक प्रकार से असम्भव है। कर्ण भी दुर्जेय हैं क्योंकि सूर्य के पुत्र हैं एवं सूर्य की आराधना करके बहु दिव्यास्त्रों से सम्पन्न हुए हैं एवं इन्द्रप्रदत्त अमोघ शक्ति से भी सम्पन्न हुए हैं। युद्ध क्षेत्र में उपस्थित अन्यान्य वीर भी यथा कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा प्रभृति महा शक्तिशाली शूरवीर हैं। अतः अर्जुन की शंका थी कि इन दुर्जेय वीरों को मैं कैसे मार सकूँगा। भगवान् इस प्रकार की शंका की निवृत्ति करने के लिए पुनः अर्जुन को स्पष्ट रूप से बतला रहे हैं कि मैं इन सभी को पहले ही मार चुका हूँ। क्योंकि मेरे लिए कोई भी दुर्जेय या अजेय नहीं है और न तो कोई मारने के अयोग्य है। अतः तुम मेरे द्वारा मारे हुए योद्धाओं को केवल निमित्तमात्र होकर मार डालो। मैंने विश्वनाटक में जिस अंश का अभिनय करने के लिए तुमको निर्वाचित किया है उसमें (१) द्रोण, भीष्म आदि की मृत्यु, (२) अर्जुन नामधारी मेरे भक्त से युद्ध कराना, (३) द्रोण, भीष्म आदि सब योद्धाओं को अर्जुन से पराजित कराना तथा (४) उनको मार डालना, (५) अर्जुन को विश्वव्यापी यश एवं (६) निष्कंटक राज्यसुख दिलाना मेरे इन सब संकल्पों को पूर्ण करने के लिये तुमको निमित्त रूप से अवश होकर यह अभिनय करना ही पड़ेगा (क्योंकि मैंने ऐसा ही नाटक तुम्हारे लिए निर्धारित किया है)। अतः युद्ध करो, शत्रु को मार डालो— तुम्हारी शत्रु पर जय निश्चित है **अतः मा व्यथिष्ठाः**—भयभीत न होओ क्योंकि जो पहले ही मेरे द्वारा मर चुके हैं उनको मारने मे क्या व्यथा या भय हो सकता है ? इस प्रकार कालरूपी भगवान् ने प्रत्यक्ष रूप से अर्जुन को युद्ध परिणाम क्या होगा वह अपने शरीर में दिखलाया एवं अर्जुन को भगवान् के हाथ में निमित्त बनकर अपना अभिनय पूर्ण करने के लिए उपदेश दिया क्योंकि इस प्रकार यन्त्र के समान कर्म करते रहने पर ही यन्त्री अर्थात् भक्त और भगवान् अन्त में एक हो जाते हैं।

[भगवान से उपदेश प्राप्त होकर अर्जुन ने क्या किया ? उसको संजय राजा धृतराष्ट्र को कह रहे हैं—]

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अन्वय—संजयः उवाच—केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा वेपमानः (सः) किरीटी कृताञ्जलिः (सन्) कृष्णं नमस्कृत्वा तथा भीतभीतः (सन्) भूयः एव प्रणम्य च सगद्गदम् आह ।

अनुवाद—संजय ने कहा श्रीकृष्णचन्द्र के ऐसे वचन सुनकर हाथ जोड़कर खड़े और काँपते हुए अर्जुन ने नमस्कार कर अत्यन्त भयभीत होकर पुनः प्रणाम करते हुए गद्गद कण्ठ से भगवान् श्रीकृष्ण से कहा ।

भाष्यदीपिका—**संजयः उवाच**—संजय ने कहा। [अब संजय ने जो कुछ कहा उसका एक गूढ़ अभिप्राय है। द्रोण, भीष्म, कर्ण तथा जयद्रथ ये चारों अजेय महाशूर हत होनेपर दुर्योधन के आश्रय लेने के लिए (सहायता करने के लिए) कोई महान् वीर नहीं रहेगा, अतः दुर्योधन भी स्वयं नष्ट हो जायेंगे। ऐसा समझकर यदि धृतराष्ट्र जय की आशा छोड़कर सन्धि कर ले तो दोनों पक्षों में शान्ति स्थापित हो सकती है—ऐसे अभिप्राय से संजय ने ये सब बाते कहीं किन्तु जो होनेवाला है वही होता है उससे अन्यथा हो नहीं सकता। धृतराष्ट्र ने संजय की इस प्रकार की उक्ति में कर्णपात भी नहीं किया। [अब अर्जुन ने भगवान् के वचन को सुनकर क्या किया यह बता रहे हैं] **केशवस्य एतद् वचनं श्रुत्वा**—पूर्वोक्त श्लोकों में केशव (भगवान्) ने जो कुछ कहा उन सब वचनों को सुनकर **वेपमानः (सः) किरीटी कृताञ्जलिः (सन्) कृष्णं नमस्कृत्वा**—हाथ जोड़कर खड़े हुए किरीटीने (जो इन्द्र का दिया किरीट धारण किया हुआ था एवं अत्यन्त वीररूप से प्रसिद्ध था उस अर्जुन ने) काँपते हुए (विश्वरूप के अत्यन्त आश्चर्यरूप दर्शन से उत्पन्न हुए भय से काँपते हुए) भक्त अघकर्षण (भक्त के पापों को नष्ट करने वाले) श्रीकृष्ण भगवान् को नमस्कार कर **तथा भीतभीतः भूयः एव प्रणम्य च**—विश्वरूप का शरण करते हुए फिर पुनः पुनः भयभीत होकर पहले

ही नमस्कार करने पर भी उनको प्रणाम कर अतिशय नम्रतापूर्वक **सगद्गदम् आह**—इस प्रकार गद्गद्भावयुक्त वचन बोला, [भय से व्याकुल होने पर या हर्ष अथवा दुःख से अभिभूत होने के कारण साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र आँसुओं से परिपूर्ण हो जाते हैं और कण्ठ कफ से रुक जाता है उस समय जो वाणी में अपटुता और शब्द में मन्दता हो जाती है उसका नाम गद्गद है। जो वचन उससे युक्त होते हैं उसको सगद्गद वचन कहा जाता है। इस प्रकार सगद्गद वचन अर्जुन ने कहा।] यहाँ सगद्गद शब्द बोलनारूप क्रिया का विशेषण है। इस प्रकार भयभीत (भय से बार-बार विह्वल चित्त हुआ) अर्जुन प्रणाम करके अत्यन्त नम्र होकर बोला।

टिप्पणी (१) श्रीधर—उसके बाद जो घटना हुई उसे धृतराष्ट्र से संजय ने कहा। **एतत् श्रुत्वा वचनं**—इत्यादि। पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में केशव ने (श्रीकृष्ण ने) जो वचन कहा उनको सुनकर काँपता हुआ अर्जुन दोनों हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण को नमस्कार कर फिर कहने लगा। किस प्रकार कहने लगा ?

[**उत्तर**—भय और हर्ष आदि के आवेशवश गद्गद के साथ अर्थात् कण्ठ कंपन से युक्त वाणी जैसे बोली जाती है उस प्रकार से बोलकर भीतभीत (अत्यन्त भयभीत होकर श्रीकृष्ण को प्रणामपूर्वक अवनत होकर बोला।

(२) शंकरानंद—भगवान् और अर्जुन के बीच कुछ वार्ता हुई थी धृतराष्ट्र को संजय ने उसको कहा—**किरीटी**—अर्जुन **वेपमानः**—भय व भक्ति से कम्पित होकर **कृताञ्जलिर्भूत्वा**—हाथ जोड़े हुए **केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा**—केशव द्वारा कहे हुए उक्त वचनों को सुनकर—**नमस्कृत्वा**—हाथों से नमस्कार कर फिर पृथिवी पर साष्टांग प्रणाम कर **सगद्गदम्**—अतिशय हर्ष से तथा आनन्द के अश्रुओं के जल के वेग से कुण्ठित कण्ठ-ध्वनि होकर तथा **भीतभीतः**—अत्यन्त भययुक्त होकर **भूयः**—फिर भी **एतत् वचनं कृष्णम् आह**—यह वचन श्रीकृष्ण से कहा।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन अपने वीरत्व के लिए इन्द्र का दिया हुआ किरीट धारण करते थे इसलिए उनको किरीटी कहते थे। इस प्रकार वीर शिरोमणि

किरीटी अर्जुन केशव के [क = ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), ईश = महेश्वर (संहारकर्ता), व = विष्णु (पालनकर्ता), अतः केशव शब्द से सृष्टि, स्थिति प्रलय कर्ता को सूचित किया गया है ।] वचन सुनकर हाथ जोड़कर खड़े हुए एवं विश्वरूप का अपूर्व दर्शन स्मरण कर अत्यन्त भयभीत होकर काँपते हुए अर्जुन ने उनको नमस्कार किया एवं पुनः प्रणाम करते हुए गद्गद कंठ से भगवान् कृष्ण को कहा—हमलोगों को यह भूलना नहीं चाहिए कि गीता ब्रह्मविद्या है अतः गीता का प्रति श्लोक ब्रह्मविद्या के साथ सम्बन्धित अवश्य होना चाहिए । अर्जुन ने जो भयंकर दृश्य देखा उससे भयभीत होकर भगवान् कृष्ण को प्रणाम करना अति साधारण एवं स्वाभाविक बात है । किन्तु श्लोक का तात्पर्य इसमें ही सीमित नहीं है । संजय धृतराष्ट्र को जो अभी कह रहे हैं उसका तात्पर्य अति गूढ़ है । जीव जबतक अहंकार का किरीट (मुकुट) धारण करके संसार प्रवाह में चलता है तब तक अपनी बुद्धि को ही सर्वशक्ति का आधार मानता है एवं उस बुद्धि का आश्रय कर 'मैं ऐसी सृष्टि करूँगा, मैं जो कुछ चाहता हूँ उनका नाश होने नहीं दूँगा' अर्थात् उनकी बराबरी के लिए स्थिति का सम्पादन करूँगा एवं जो मेरे प्रतिकूल होगा उनका नाश करूँगा" अर्थात् अपने को ही धर्ता, भोक्ता एवं सृष्टि स्थिति-नाश कर्ता समझता है । इसप्रकार की वृत्तियाँ सभी धृतराष्ट्र से अर्थात् अन्ध (अविवेकी) मन से उत्पन्न होती हैं, इसलिए संजय धृतराष्ट्र को लक्ष्य कर, अर्जुन (शुद्धबुद्धि) ने भगवान् के वचन सुनकर क्या किया उसे कह रहे हैं । शुद्धबुद्धि होने के बाद जो अहंकार रूप किरीट सबसे उच्चस्थान में रहता था उस भगवान् के विश्वरूप का दर्शनकर एवं भगवान् ही केशव है अर्थात् सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता है, यह साक्षात् अनुभव कर उस अहंकाररूप किरीट को भगवान् के चरणकमल में रख देता है—एवं कृताञ्जलि होकर [हाथ जोड़ कर] उनको अनादिकाल से जो तिरस्कार किया है इसलिए क्षमाभिक्षा करते हैं एवं उनका अद्भुत ऐश्वर्य देखकर **वेपमानः** (कम्पित) होते हैं एवं बार-बार उनको भयंकर कालरूपी मुखों में विश्व का सब प्राणी ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक प्रवेश करने के लिए अतिशीघ्र गति से दौड़ रहे हैं, इस दृश्य को भगवान् की कृपा से दिव्य दृष्टि (ज्ञानदृष्टि) लाभकर प्रत्यक्ष देखते हैं एवं स्वतः ही कालरूपी विकराल मृत्यु से भयभीत होकर बारबार उनको प्रणाम करते हुए अपनी सत्ता को मिटा देना चाहते

हैं। इसी अवस्था में भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति स्वभावतः ही भक्ति, श्रद्धा, हर्ष, भय इत्यादि का आतिशय्य (आधिक्य) के कारण उनके बचन गद्गद युक्त हो जाते हैं अर्थात् नेत्र अश्रुपूर्ण होते हैं, कफ के द्वारा कंठ रुक जाता है एवं वाणी मन्द एवं कम्पित होकर विकार प्राप्त होती है। यहाँ अर्जुन की अवस्था का वर्णन करते हुए भगवान् के साथ मिलने के पहले सभी अनन्य भक्त की शरीर में, मनमें, वाणी में किस प्रकार की स्थिति होती है उसका संजय ने वर्णन किया।

[अर्जुन ने गद्गद वचन से क्या कहा? उसको सञ्जय ग्यारह श्लोकों से धृतराष्ट्र से बोल रहा है—]

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच—हे हृषीकेश, तव प्रकीर्त्या यत् जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च (तत्) स्थाने (तथा) रक्षांसि भीतानि दिशः द्रवन्ति (तत् च स्थाने) सर्वे सिद्धसंघाः च नमस्यन्ति (तत् च स्थाने)।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा, हे हृषीकेश! (इन्द्रियों को प्रेरणा देनेवाले भगवान्) तुम्हारी श्रेष्ठ कीर्ति से जगत् अत्यन्त हर्षित और तुम्हारे प्रति अनुरक्त हो रहा है किन्तु राक्षस लोग भयभीत होकर (डर कर) दिशाओं में भाग रहे हैं तथा सब सिद्धों के संघ (समुदाय) तुमको नमस्कार कर रहे हैं–ये सभी उचित (युक्त) ही है।

भाष्यदीपिका—हे हृषिकेश!—हे सर्व इन्द्रियों के प्रेरक जगत्पति! क्योंकि तुम सर्वभूत के अन्तर्यामी एवं आत्मा हो इस कारण से **तव प्रकीर्त्या**—तुम्हारी प्रकृष्ट कीर्ति से (तुम्हारी महिमा का कीर्तन एवं श्रवण करने से) केवल मैं ही हर्षित नहीं होता हूँ अपितु राक्षसों के बिना समस्त जगत् (चेतन मात्र ही) प्रहर्ष (प्रकृष्ट हर्ष) को प्राप्त होता है तथा **अनुरज्यते च**—तथा तुम्हारे प्रति अनुरक्त होता है, **तत्स्थाने**—वह युक्त (उचित) ही है। "**स्थाने**" यह शब्द अव्यय है। यहाँ

युक्त या उचित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अथवा "स्थाने" शब्द 'प्रहृष्यति' का विशेषण न होकर प्रहर्ष का विषय जो भगवान् है उनका ही विशेषण रूप से व्यवहृत हुआ है अर्थात् भगवान् सर्वात्मा (सबकी आत्मा) अतः समस्त जगत् का हर्षादि का विषय होगा एवं सारा जगत् ही उनके प्रति अनुरक्त होगा यह युक्त ही है इस प्रकार 'स्थाने च' पद का अर्थ है। श्लोक में "जगत्" शब्द का अर्थ है–भगवद्विरोधी राक्षसी तथा आसुरी प्रकृतिसम्पन्न व्यक्तियों को छोड़कर अन्य सब। इसे ही अब स्पष्ट कर रहे हैं (तथा) **रक्षांसि भीतानि दिशः द्रवन्ति तत् च स्थाने**— तथा (फिर) राक्षस लोग भीत (भय से आविष्ट) होकर दिशाओं में भाग रहे हैं अर्थात् समस्त दिशाओं में पलायन कर रहे हैं, यह भी उचित ही है। **सर्वे सिद्धसंघाः च नमस्यन्ति (तत् च स्थाने)**—तथा कपिलादि सम्पूर्ण सिद्धों के समूह जो तुमको नमस्कार कर रहे हैं यह भी उचित ही है ["प्रकीर्त्या", "स्थाने" इन पदों का अन्वय सभी के साथ है। मन्त्रशास्त्र में यह श्लोक रक्षोघ्न मंत्ररूप से प्रसिद्ध है (अर्थात् राक्षसगण इस मन्त्र के प्रयोग से भाग जाते हैं) तथा इसे नारायण अष्टाक्षर एवं सुदर्शनशास्त्र इन दो मन्त्रों से सम्पुटित समझना चाहिए—यह गुप्त रहस्य है– (मधुसूदन)]।

टिप्पणी–(१) श्रीधर–"स्थाने" यहाँ से लेकर ग्यारह श्लोक तक अर्जुन की उक्ति है। अर्जुन बोल रहे हैं **स्थाने हृषीकेश इत्यादि**–'स्थाने' यह अव्यय उचित के अर्थ में है। हे हृषिकेश ! क्योंकि आप इस प्रकार अद्भुत प्रभावशाली तथा भक्तवत्सल हो इसलिए आपके कीर्तन से (माहात्म्य के वर्णन करने से) केवल मैं ही अतिहर्षित होता हूँ ऐसा नहीं किन्तु समस्त जगत् प्रकृष्ट रूप से (अत्यन्त) हर्ष को प्राप्त होता है– यह सर्वप्रकार से युक्त (उचित) ही है। फिर समस्त जगत् जो तुम्हारे प्रति अनुराग को भी प्राप्त होता है अर्थात् तुमको प्रेम करता है एवं राक्षस लोग जो तुमको देखकर भयभीत होकर नाना दिशाओं में भागते हैं तथा योग, तप और मन्त्र आदि द्वारा सिद्ध हुए लोगों के संघ (समुदाय) जो तुमको प्रणाम कर रहे हैं, यह भी उचित ही है अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य होने की बात नहीं है।

(२) शंकरानन्द—**हे हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति इति**

स्थाने—हे हृषीकेश ! तुम्हारी प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) वृत्ति से अर्थात् महत्त्व के कीर्तन और श्रवण से जो समस्त जगत् प्रकृष्टरूप से (अतिशय) हर्ष को प्राप्त होता है वह "स्थाने" अर्थात् युक्त ही है। ["स्थाने" शब्द का ठीक-ठीक अर्थ है युक्त (उचित विषय) अतः कहने का अभिप्राय यही है कि तुम सब जगत् के जो हर्ष के विषय हो वह उचित ही है **अनुरज्यते च**—तुम्हारी प्रकीर्ति (उत्कृष्ट कीर्तन) से जगत् तुममें जो अनुराग को प्राप्त होता है वह भी युक्त ही है अर्थात् तुम जो जगत् के अनुराग के विषय हो यह उचित ही है। तुम्हारी प्रकृति से भयभीत होकर **भीतानि रक्षांसि दिशो द्रवन्ति इति स्थाने**—राक्षस लोग जो दिशाओं में भागते हैं वह युक्त ही है अर्थात् तुम राक्षसों के पलायन के हेतु (विषय) हो, यह उचित ही है। **सिद्धसंघाः त्वां नमस्यन्ति इति स्थाने**—सिद्धों के (देवताविशेषों के) संघ (समूह) तुमको जो नमस्कार करते हैं अर्थात् तुम जो सब देवों के नमस्कार के विषय हो यह भी युक्त ही है। अथवा इस श्लोक का इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है हे हृषीकेश ! 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'—अर्थात् लोगों का संहार करने वाला मैं यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ इस प्रकार पूर्व श्लोक में कहकर तुमने जो कहा है कि भूमि के (पृथ्वी के) भाररूप सब दुष्ट लोगों के संहार के लिए मैं प्रवृत्त हुआ हूँ इस प्रकार की तुम्हारी प्रकृति से (सुने गये प्रकृष्ट वचन से) जो जगत् अर्थात् साधु लोग हर्ष करते हैं (संतोष करते हैं) वह स्थाने (युक्त) है। तुम सम्पूर्ण लोकों के ईश्वर हो अतः सब लोगों का रक्षण करने के लिए प्रवृत्त हुए तुमसे सब दुष्टों का संहार हो जाने पर साधुओं का प्रसन्न होना युक्त ही है। **अनुरज्यते च**—तुम्हारी प्रकृति से जगत् (साधु लोग) भक्तवत्सल, सब भूतों के सुहृत् तुम परमात्मा में जो अनुराग करते हैं वह युक्त है अर्थात् लोगों के उपद्रव निवारण करने के लिये प्रवृत्त हुए कृपालु परमेश्वर रूप तुम में साधुओं का अनुराग होना युक्त ही है। **सर्वे रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति**—तुम्हारी प्रकृति से (अर्थात् "दुष्टों का संहार करने के लिये मैं प्रवृत्त हूँ" तुम्हारे इस प्रकृष्ट वचन को सुनने से) सब राक्षस भीत होकर इधर-उधर दिशाओं में (दिशाओं के कोनों में) पलायन करते हैं (भाग जाते हैं)। **सर्वे सिद्धसंघाः त्वां नमस्यन्ति**—तुम्हारी प्रकृति से सब

लोगों के सुख की आकांक्षा करने वाले समस्त सिद्धसंघ तुमको नमस्कार करते हैं। "सिद्ध" शब्द देवजाति का भी उपलक्षण है। अतः 'सर्वे सिद्धसंघाः नमस्यन्ति' इस वाक्य का अर्थ है–देव, ऋषि, सिद्ध, गन्धर्व, चारण सब "हे स्वामिन्! तुमने जैसा कहा ऐसा ही करना चाहिये।" इस प्रकार प्रार्थना के साथ आपको नमस्कार करते हैं, ये सब **स्थाने च**—युक्त ही है।

(३) **नारायणी टीका**—कोई भी व्यक्ति अच्छा काम करे जिससे लोक का कल्याण हो, बृद्धि हो, तथा रक्षा हो तब उस कार्य के लिए उनका यश फैल जाता है एवं जो लोग उनसे उपकृत होते हैं वे उनका यश-कीर्तन कर प्रहृष्ट (आनन्दित) होता है एवं उसके प्रति अनुरक्त होता है। किन्तु भगवान् की क्रिया में सभी विरुद्ध धर्म का समन्वय है वे एक साथ ही जगत् की सृष्टि कर रहे हैं, स्थिति (रक्षा) करते हैं एवं ध्वंस भी करते हैं, उन्मत्त बालक जैसे अपनी इच्छा से, अपने आनन्द से, ताल बेताल में नृत्य करते हैं उसी प्रकार भगवान् भी धार्मिक-अधार्मिक, पापी-पुण्यात्मा, सृष्टि-स्थिति-प्रलय कर्त्ता रूप में ताण्डव नृत्य करते हुए अपनी कीर्ति (स्वतःसिद्ध महिमा) प्रकाश करते हैं। जगत् में जो ज्ञानी भक्त इसप्रकार भगवान् को शुभ-अशुभ सर्वमूर्ति में देखते हैं वही भगवान् की कीर्ति का (स्वरूपसिद्ध महिमा का) प्रकृष्ट रूप से अर्थात् पूर्ण-रूप से कीर्तन करते हुए प्रकृष्ट हर्ष अर्थात् निरतिशय हर्ष (आनन्द) प्राप्त हो सकता है एवं भगवान् में ठीक-ठीक (यथार्थ रूप से) अनुरक्त होकर उनके हाथों में यन्त्रवत् नृत्य करते हुए अन्त में उनके साथ एक होकर पूर्ण आनंद में डूब जाते हैं। यहाँ हर्ष प्राप्त हुए अनुरक्त हुए एवं 'जगत्' शब्द ज्ञानी भक्त के जगत् को सूचित कर रहा है क्योंकि सर्वत्र भगवान् की कीर्ति (महिमा) देखने के पश्चात् ज्ञानी भक्त का ही सर्वप्रकार के राग-द्वेष विनष्ट हो जाते हैं एवं एकमात्र भगवान् की सत्ता सर्वत्र अनुभव कर भक्त सर्व रूप में, सर्व देश में, एवं सर्वकाल में अर्थात् जगत् की सर्व अवस्था में ही प्रहर्ष (आनन्द) एवं अनुरक्ति (प्रेम) की लीला ही देखते हैं एवं वही कीर्तन करते हैं। यह ही 'प्रकीर्त्या' शब्द का तात्पर्य है। शुद्धचैतन्यस्वरूप भगवान् ही सब की आत्मा है अतः अपनी लीला देखकर सबको ही प्रहर्षित होना उचित है और आत्मा के लिए सबको ही स्वाभाविक प्रेम रहता है अतः आतमा सब के अनुरक्ति

अर्थात् प्रेम का विषय है यह 'स्थाने' अर्थात् युक्त ही है किन्तु जो लोग आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जान कर देह इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि करते हैं वे राक्षसवृत्ति-सम्पन्न होते हैं क्योंकि अपने स्वार्थ की रक्षा करने के लिए दूसरे को बलिदान करते हैं अथवा आसुरी-वृत्ति सम्पन्न होते हैं [क्योंकि असून् राति इति असुरः अर्थात् जो अपने प्राण को पालन करने के लिये सदा ही व्यस्त रहते हैं (आत्मा का पालन करने के लिए नहीं) असुर कहलाते हैं ।] अतः सब राक्षस तथा आसुरी प्रकृति से युक्त लोग अन्तरात्मा को न जानने के कारण केवल देह इन्द्रियादि की तृप्ति के लिए नाना दिशा में अनवरत भागते रहते हैं । यथार्थ आनंद अपनी आत्मा में ही प्राप्त हो सकता है यह वे लोग नहीं जानते । और जो लोग योग, तपस्या, तन्त्र मन्त्र से सिद्धिलाभ किये हैं, वे जगत् के कल्याण के लिए भगवान् के प्रति प्रार्थना करते हुए उनको बारंबार नमस्कार करते हैं । श्लोक का सारांश यह है कि सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धि में अभिमान रखने के कारण भगवान् से अपने को पृथक् मानते हैं किन्तु भगवान् की महिमा प्रकृष्ट रूप से कीर्तन करते हुए भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक भगवान् को सदा नमस्कार करेंगे यह युक्त ही है अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु ज्ञानी भक्त का जगत् ब्रह्ममय होने के कारण अपने में तथा भगवान् में कोई भेदभाव नहीं रखते हैं, अतः समस्त जगत् की शुभ तथा अशुभ घटनाओं में अपनी ही लीला का तरंग देखकर प्रकृष्ट रूप से हर्षित, आनंदित होते हैं तथा अपने स्वरूप आनंद में अनुरक्त (निमग्न) होते हैं यह भी युक्त ही है अर्थात् इसमें आश्चर्य की बात नहीं है और जो लोग देह इन्द्रियादि को ही आत्मा मानते हैं वे सच्चिदानंदस्वरूप अन्तरात्मा की महिमा के कीर्तन से विमुख होकर दिन-रात संसार के जरा, व्याधि, मृत्यु के भय से भीत होकर तथा उस भय से बचने के लिए बाह्य विषय की लालसा से प्रेरित होकर नाना दिशाओं में भागते रहेंगे यह भी युक्त ही है अर्थात् इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है ।

श्लोक में 'प्रकीर्त्या' एवं 'स्थाने' इन दोनों पदों का सबके साथ अन्वय है । अपने-अपने भावके अनुसार सर्वात्मा भगवान् के साथ जीवों का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध स्थापित होता है अर्थात् मनुष्य की वृत्तियों के भेद से पृथक्-पृथक् वस्तुओं में आत्म-बुद्धि होती है । आत्मा ही सबको प्रिय है अतः आत्मा की महिमा कीर्तन करना सबके

लिए ही स्वाभाविक है। ज्ञानी लोग शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान् को आत्मा मानते हैं एवं सर्वत्र उसी आत्मा का दर्शन करते हैं, इसलिए विश्व का सब कुछ आत्मा की महिमा है ऐसा मानकर प्रकृष्ट रूप से उस महिमा का कीर्तन करते हैं। अज्ञानी राक्षसी या आसुरीप्रकृतिसम्पन्न मनुष्य देहादि में आत्मबुद्धि रखते हैं अतः देह इन्द्रियादि के पिण्डों के कार्यों को अपनी महिमा मानकर उनका कीर्तन करते हैं अर्थात् अपने अहंकार का ही सर्वदा कीर्तन करते हैं। अभी तक जिनकी भगवान् के साथ एकत्वबुद्धि नहीं हुई—इस प्रकार के मुनिऋषि देव आदि सिद्धगण अपने से पृथक् भगवत्सत्ता का कीर्तन तथा नमस्कार करते हैं, यह सभी 'स्थाने' अर्थात् युक्त (स्वाभाविक) है। [जो लोग विशेष कोई विभूति या शक्ति की प्राप्ति के लिए योग तपस्या कर सफलता प्राप्त हुए हैं परन्तु अभी तक पूर्ण तत्त्वज्ञान नहीं उपलब्ध किये हैं वे यहाँ 'सिद्ध' शब्द से सूचित किए गए हैं]।

[भगवान् पूर्व श्लोकों में उक्त हर्ष आदि का विषय क्यों होता है, यह अब स्पष्ट कर रहे हैं—]

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

अन्वय—हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! ब्रह्मणः अपि गरीयसे आदिकर्त्रे ते कस्मात् च न नमेरन् ? त्वम् अक्षरम् त्वम् सत् त्वम् असत् तत् परम् अपि त्वम् एव।

अनुवाद—हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवों के ईश्वर ! हे जगत् के निवास ! तुम ब्रह्मा से भी गुरुतर (श्रेष्ठ) और उनके भी आदिकर्त्ता हो तथा तुम ही सत् एवं तुम ही असत् उन दोनों से भी जो परम (श्रेष्ठ) अक्षर पुरुष है वह भी तुम हो। अतः वे अर्थात् सब जगत्वासी तुमको नमस्कार क्यों नहीं करेंगे ?

भाष्यदीपिका—**हे महात्मन्**—तुम्हारी आत्मा (चित्त) महान् (परम उदार) है इसलिए तुम महात्मा हो। **हे अनन्त**—तुम सब प्रकार के परिच्छेद

अर्थात् प्रेम का विषय है यह 'स्थाने' अर्थात् युक्त ही है किन्तु जो लोग आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जान कर देह इन्द्रियादि में आत्मबुद्धि करते हैं वे राक्षसवृत्ति-सम्पन्न होते हैं क्योंकि अपने स्वार्थ की रक्षा करने के लिए दूसरे को बलिदान करते हैं अथवा आसुरी-वृत्ति सम्पन्न होते हैं [क्योंकि असून् राति इति असुरः अर्थात् जो अपने प्राण को पालन करने के लिये सदा ही व्यस्त रहते हैं (आत्मा का पालन करने के लिए नहीं) असुर कहलाते हैं।] अतः सब राक्षस तथा आसुरी प्रकृति से युक्त लोग अन्तरात्मा को न जानने के कारण केवल देह इन्द्रियादि की तृप्ति के लिए नाना दिशा में अनवरत भागते रहते हैं। यथार्थ आनंद अपनी आत्मा में ही प्राप्त हो सकता है यह वे लोग नहीं जानते। और जो लोग योग, तपस्या, तन्त्र मन्त्र से सिद्धिलाभ किये हैं, वे जगत् के कल्याण के लिए भगवान् के प्रति प्रार्थना करते हुए उनको बारंबार नमस्कार करते हैं। श्लोक का सारांश यह है कि सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धि में अभिमान रखने के कारण भगवान् से अपने को पृथक् मानते हैं किन्तु भगवान् की महिमा प्रकृष्ट रूप से कीर्तन करते हुए भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक भगवान् को सदा नमस्कार करेंगे यह युक्त ही है अर्थात् इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है किन्तु ज्ञानी भक्त का जगत् ब्रह्ममय होने के कारण अपने में तथा भगवान् में कोई भेदभाव नहीं रखते हैं, अतः समस्त जगत् की शुभ तथा अशुभ घटनाओं में अपनी ही लीला का तरंग देखकर प्रकृष्ट रूप से हर्षित, आनंदित होते हैं तथा अपने स्वरूप आनंद में अनुरक्त (निमग्न) होते हैं यह भी युक्त ही है अर्थात् इसमें आश्चर्य की बात नहीं है और जो लोग देह इन्द्रियादि को ही आत्मा मानते हैं वे सच्चिदानंदस्वरूप अन्तरात्मा की महिमा के कीर्तन से विमुख होकर दिन-रात संसार के जरा, व्याधि, मृत्यु के भय से भीत होकर तथा उस भय से बचने के लिए बाह्य विषय की लालसा से प्रेरित होकर नाना दिशाओं में भागते रहेंगे यह भी युक्त ही है अर्थात् इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

श्लोक में 'प्रकीर्त्या' एवं 'स्थाने' इन दोनों पदों का सबके साथ अन्वय है। अपने-अपने भावके अनुसार सर्वात्मा भगवान् के साथ जीवों का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध स्थापित होता है अर्थात् मनुष्य की वृत्तियों के भेद से पृथक्-पृथक् वस्तुओं में आत्म-बुद्धि होती है। आत्मा ही सबको प्रिय है अतः आत्मा की महिमा कीर्तन करना सबके

लिए ही स्वाभाविक है। ज्ञानी लोग शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान् को आत्मा मानते हैं एवं सर्वत्र उसी आत्मा का दर्शन करते हैं, इसलिए विश्व का सब कुछ आत्मा की महिमा है ऐसा मानकर प्रकृष्ट रूप से उस महिमा का कीर्तन करते हैं। अज्ञानी राक्षसी या आसुरीप्रकृतिसम्पन्न मनुष्य देहादि में आत्मबुद्धि रखते हैं अतः देह इन्द्रियादि के पिण्डों के कार्यों को अपनी महिमा मानकर उनका कीर्तन करते हैं अर्थात् अपने अहंकार का ही सर्वदा कीर्तन करते हैं। अभी तक जिनकी भगवान् के साथ एकत्वबुद्धि नहीं हुई—इस प्रकार के मुनिऋषि देव आदि सिद्धगण अपने से पृथक् भगवत्सत्ता का कीर्तन तथा नमस्कार करते हैं, यह सभी 'स्थाने' अर्थात् युक्त (स्वाभाविक) है। [जो लोग विशेष कोई विभूति या शक्ति की प्राप्ति के लिए योग तपस्या कर सफलता प्राप्त हुए हैं परन्तु अभी तक पूर्ण तत्त्वज्ञान नहीं उपलब्ध किये हैं वे यहाँ 'सिद्ध' शब्द से सूचित किए गए हैं]।

[भगवान् पूर्व श्लोकों में उक्त हर्ष आदि का विषय क्यों होता है, यह अब स्पष्ट कर रहे हैं—]

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

अन्वय—हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! ब्रह्मणः अपि गरीयसे आदिकर्त्रे ते कस्मात् च न नमेरन् ? त्वम् अक्षरम् त्वम् सत् त्वम् असत् तत् परम् अपि त्वम् एव।

अनुवाद—हे महात्मन् ? हे अनन्त ! हे देवों के ईश्वर ! हे जगत् के निवास ! तुम ब्रह्मा से भी गुरुतर (श्रेष्ठ) और उनके भी आदिकर्त्ता हो तथा तुम ही सत् एवं तुम ही असत् उन दोनों से भी जो परम (श्रेष्ठ) अक्षर पुरुष है वह भी तुम हो। अतः वे अर्थात् सब जगत्वासी तुमको नमस्कार क्यों नहीं करेंगे ?

भाष्यदीपिका—**हे महात्मन्**—तुम्हारी आत्मा (चित्त) महान् (परम उदार) है इसलिए तुम महात्मा हो। **हे अनन्त**—तुम सब प्रकार के परिच्छेद

(सीमा) से शून्य हो अतः तुम अनन्त (पूर्ण) हो। **हे देवेश**—हिरण्यगर्भादि देवताओं के तुम नियंता (चालक) हो इसलिए तुम देवताओं के भी ईश्वर हो। **हे जगन्निवास**—सारे जगत् के तुम ही एक आश्रय हो अर्थात् तुमको आश्रय करके नामरूपात्मक समस्त जगत् माया से प्रतीत हो रहा है, इसलिए तुमको जगत् के निवास कहते हैं। **ब्रह्मणः अपि गरीयसे आदिकर्त्रे**—तुम ब्रह्मा से (हिरण्यगर्भ से) भी गुरुतर (श्रेष्ठ) हो। अतः सबसे बड़े हो क्योंकि तुम ब्रह्मा के (हिरण्यगर्भ के) भी आदिकर्त्ता (कारण अर्थात् जन्मदाता) हो। इसलिए तुमको **ते कस्मात् च न नमेरन्**—वे अर्थात् सिद्धगण तथा राक्षस आदि बिना अन्य सभी क्यों नहीं नमस्कार करेंगे। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कारण से तुम हर्षादि के तथा नमस्कार के योग्यपात्र ही हो। [नियंतृत्व उपदेष्टृत्व, जनकत्व इत्यादि में से एक भी हेतु यदि किसी में रहे तब वह नमस्कार-योग्य होता है फिर वह यदि महात्मत्व, अनन्तत्व एवं जगन्निवासत्व इत्यादि कल्याणमय गुणों से युक्त हो तो उसको सब विवेकी पुरुष नमस्कार करेंगे इसमें आश्चर्य की बात क्या है ? यही 'कस्मात्' शब्द का तात्पर्य है। और 'च' शब्द 'वा' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **त्वं सत् त्वम् असत्, परं यत् अक्षरं तत् त्वम् एव**—जो विद्यमान है वह सत् है और जिसमें ऐसी बुद्धि नहीं है वह असत् है। वे दोनों 'सत्' 'असत्' जिस अक्षर की उपाधि है जिनके कारण वह ब्रह्म उपचार से सत् और असत् कहा जाता है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जो सत् और असत् से परे है जिसे वेदवेत्ता लोग साक्षात्कार करते हैं एवं जिस अक्षर पुरुष का कीर्तन सारा वेदान्त करता है वह ब्रह्म भी तुम ही हो। अभिप्राय यह है कि तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इन कारणों से सब तुमको नमस्कार करते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा है उसमें कारण बताता है। **कस्मात् च ते न नमेरन् इत्यादि**—हे महात्मन्! हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! तुमको ये लोग क्यों नहीं नमस्कार करेंगे ? तुम कैसे हो ? ब्रह्मा से भी गरीयान् अर्थात् गुरुतर हो तथा ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता अर्थात् जनक हो, फिर जो कुछ भी सत् (व्यक्त) तथा असत् (अव्यक्त) है तथा उन दोनों से परे (मूलकारण) अक्षर ब्रह्म है वह भी तुम ही हो। कहने का अभिप्राय यह है कि इन नौ

हेतुओं के कारण [(१) तुम महात्मा हो, (२) तुम अनंत हो (३) तुम देवेश हो, (४) जगत् के अधिष्ठान हो, (५) तुम ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ हो, (६) तुम ब्रह्मा के भी उत्पादक (स्रष्टा) हो, (७) तुम सत् हो, (८) तुम असत् हो (९) सत् असत् से परे उनका मूलकारण अक्षर ब्रह्म भी तुम ही हो। इन नौ कारणों से तुमको सब लोग नमस्कार करते हैं—इसमें कोई विचित्र बात नहीं है]

(२) **शंकरानन्द**—[भगवान सब देवताओं के नमस्कार के पात्र हैं। इसमें हेतु बताते हुए काकु से (कण्ठ की एक प्रकार की ध्वनि से) भगवान् सबके वन्दनीय हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**हे महात्मन्! कस्मात् च ते न नमेरन्**—यहाँ 'च' शब्द का 'तु' (किन्तु) अर्थ में प्रयोग है। महान् (महत्त्व)–(सर्वोत्कृष्ट अपना स्वभाव जिसका हैं) हे महात्मन्! क्यों नहीं सिद्ध आदि सब देवता तुमको नमस्कार करेंगे, अर्थात् सब प्रकार से विचार करने पर तुमको ही वे नमस्कार करेंगे, यह तात्पर्य है। भगवान् श्रीकृष्ण कह सकते हैं कि मैं भी साधारण जन ही हूँ, फिर मुझमें ऐसी क्या विशेषता है जिसके कारण वे मुझे नमस्कार करेंगे ? (उत्तर) ऐसी आशंका करना उचित नहीं है क्योंकि ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, वीर्य, तेज और शक्तिविशेष से सम्पन्न तथा परमात्मरूप से सर्वोत्तम होने के कारण तुम ही सबके नमस्कार के पात्र हो उसी सर्व नमस्कार्यत्व में और क्या हेतु है वह अर्जुन कहते हैं **गरीयसे** ज्ञान आदि उक्त विशेषों से जो सर्वोत्तम है वह सर्वगरीयान् है। अतः ज्ञानादि से सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ होने के कारण तुम गुरुतर हो। **ब्रह्मणः अपि आदिकर्त्रे**–ब्रह्मा के भी (हिरण्यगर्भ के भी) अर्थात् सर्वभूत के पति एवं सबके आराध्य के भी आदिकर्ता हो [आदि (जन्म का कारण) और कर्त्ता (नियामक-नियन्ता) अर्थात् जो आदि भी है और कर्त्ता भी है वह आदि कर्त्ता है।] जब तुम उनके अर्थात् ब्रह्मा के भी स्रष्टा तथा ईश्वर हो तब तुम्हारी सर्ववन्दनीयता में क्या कहना है ? फिर भी अर्जुन दूसरे हेतुओं को कहते हैं–हे **अनन्त ! हे देवेश्वर ! हे जगन्निवास**–अनंत होने के कारण, देवताओं के ईश्वर होने के कारण तथा जगन्निवास होने के कारण सब देवों के प्रणम्य तुम ही हो। [**'अनन्तत्वाद्देवानामीश्वरत्वाज्जगन्निवासत्वाच्च सर्वदेवनमस्कार्योऽसीत्यर्थः] 'अनन्तश्चाऽऽत्मा' इति 'देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः'**

इति श्रुतेः—अर्थात् श्रुति कहती है आत्मा अनन्त है और जो देवों का अधिपति है एवं जिसमें लोक अधिष्ठित है, वह आत्मा है। भगवान् कह सकते थे कि मेरी अनंतता का सम्भव नहीं है कारण जगत् और उसके कारणों में व्यवधान है। इस पर कहते हैं-**सत् असत् तत् परं यत् अक्षरं तत् त्वम् एव**—नाम और रूप से जो कहने में आता है वह सत् अर्थात् कार्य-जगत् को सत् कहा जाता है। और उससे विलक्षण जो जगत् का कारण अव्याकृत है वह 'असत्' है। वे दोनों सत् और असत् तुम ही हो क्योंकि **'सर्वं ही एतद् ब्रह्म'**—सब ही यह ब्रह्म है ऐसी श्रुति है। अब भगवान कह सकते हैं कि सत्-असत् रूप होने पर भी मेरी अनन्तता नहीं हो सकती है। इस पर कहते हैं **त्वमक्षरम्**—सत् अर्थात् कार्य जगत् और असत् अर्थात् अव्याकृत रूप जगत् का कारण, इन दोनों की अपेक्षा नित्य होने के कारण सच्चिदानंद रूप होने के कारण, निरतिशय महान् होने के कारण तथा अतिसूक्ष्म होने के कारण तुम सत्–असत् से विलक्षण तथा उनका कारण जो श्रुतिप्रसिद्ध अक्षर पुरुष है अर्थात् जो कभी भी किसी से भी और किसी प्रकार से भी नष्ट नहीं होता है अर्थात् नित्य कूटस्थ सच्चिदानंदैकरस, अद्वितीय, निर्विशेष परंब्रह्म है वह तुम ही हो तुम से अन्य नहीं है। श्रुति कहती है 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा इत्यादि' (हे गार्गी। जो निश्चय इस अक्षर को नहीं जान कर) इससे अक्षर पुरुष का अनन्तत्व सिद्ध होता है क्योंकि श्रुति में कहा है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप है। जिस कारण से ऐसा है इस लिए सब देवताओं के नमस्कार के योग्य तुम ही हो।

(३) नारायणी टीका—श्रद्धा, भक्ति तथा विश्वास से उत्पन्न किसी का अतिशय माहात्म्य देखकर जब श्रद्धा उत्पन्न होती है तभी एक दूसरे प्रति मस्तक नत कर देता है अर्थात् स्वतः ही उनको नमस्कार करने की प्रवृत्ति होती है। भक्त लोग भी जब यह जान लेता है कि भगवान् महात्मा है अर्थात् उनकी आत्मा महान् अर्थात् सर्वव्यापी एवं सबसे उदार है, वे अनंत असीम है अर्थात् अविनाशी है, वे देवेश अर्थात् देवताओं के भी ईश्वर है अर्थात् सब देवता भी उनकी प्रेरणा से ही अपने अपने कार्य का सम्पादन करने के लिए बाध्य होते हैं, जिस प्रकार समुद्र के तरंग का आश्रय समुद्र ही है उसी प्रकार जगत के सृष्टि-स्थिति-प्रलय का आश्रय भी वही है अतः वे जगन्निवास हैं, वे ही

सत् हैं अर्थात् व्यक्त जगत् में जो कुछ दिखाई पड़ता है उन सब रूपों में एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है, फिर ये असत् भी है अर्थात् अव्यक्त रूप का कारण भी वही है; केवल कार्य तथा कारण ही वे नहीं है परन्तु वे उन दोनों से परे (अतीत) जो श्रुति-प्रसिद्ध अक्षर पुरुष है वे भी वही है [अर्थात् नामरूपात्मक जो कार्य-जगत् के साथ मनुष्य का व्यवहार चलता है उन सब रूपों में जैसा भगवान् स्थित है, उसी प्रकार जिसकी सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष नहीं होता है परन्तु जगत् के कारण रूप से जो अव्यक्त प्रधान (समष्टि माया) है वह भी वही है एवं कार्य कारण से अतीत सर्व प्रपञ्च से रहित शान्त, अद्वितीय, अविकारी नित्य सत्य बुद्ध मुक्त जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप अक्षर भी (किसी काल में किसी समय में अथवा किसी अवस्था में जिसका क्षर (विनाश) नहीं होता है वह भी) वही है जो ऐसे सर्वरूप से पूर्ण हैं उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा भक्ति विश्वास होना क्या आश्चर्य की बात है ? प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मा जब जगत् के सृष्टिकर्ता हैं तब ब्रह्मा उनसे बड़े होंगे ? इस पर कहते हैं ब्रह्मा से भी वे वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है क्योंकि जो सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप (शुद्ध चैतन्य स्वरूप) एवं अनंत स्वरूप अक्षर पुरुष के बारे में यह कहा गया है वे आदिकर्त्ता हैं अर्थात् आदि (कारण) के भी कर्त्ता (कारण) है। अभिप्राय यह है कि तुम ही ये सब हो तथा ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ अर्थात् समष्टि जीव) का भी कारण अर्थात् जनक हो। इसलिए तुम्हारी मूर्ति देखकर (तुम्हारे विश्वरूप की महिमा देखकर) राक्षस गण के बिना और सभी विवेकी व्यक्ति तुमको नमस्कार करेंगे उसमें कहना क्या है ? जब ऐसा ही है तब तत्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष तुम्हारी शान्त या घोर (भयंकर) विश्वलीला का एक-एक तरंग देखकर आनंद में (हर्ष में) आप्लुत हो जायेंगे एवं क्षण-क्षण में तुमको ही नमस्कार करेंगे इसमें आश्चर्य होने की बात क्या है ?

[जगत् का स्रष्टृत्व आदि गुणों के लिए भी भगवान् नमस्कार के योग्य हैं, यह अब अर्जुन भक्ति के उद्रेक से फिर भी कह रहे हैं—]

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

अन्वय—त्वम् आदिदेवः, त्वं पुराणः पुरुषः, त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्, त्वं वेत्ता असि, त्वं वेद्यं च, (तथा) परं च धाम असि, त्वया हे अनन्तरूप विश्वं ततम् ।

अनुवाद—हे अनंतरूप ! तुम आदिदेव हो, तुम पुराण पुरुष हो, इस विश्व का चरम लय स्थान भी तुम ही हो, तुम ज्ञाता हो, तुम नित्यसाक्षी हो ज्ञेय भी तुम ही हो (दृश्य भी तुम ही हो) तुम ही परमधाम (परमपद) हो एवं यह सारा विश्व तुम्हीं से व्याप्त है।

भाष्यदीपिका—**त्वम् आदिदेवः त्वम्**—तुम जगत् के आदि हो अर्थात् जगत् के सृष्टि का कारण हो तथा देव (स्वयंप्रकाश) भी हो अर्थात् तुम्हारा प्रकाश करने के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। **त्वं पुराणः पुरुषः**—तुम पुराण (चिरन्तन नित्य) पुरुष ['पुरि शयनात् पुरुषः' अर्थात् जो प्रत्येक जीव के हृदय में शयन करते हुए सदा ही विद्यमान रहता है उन्हें पुरुष (आत्मा) कहते हैं।] **त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम्**—तुम इस विश्व के परम (प्रकृष्ट) निधान (लयस्थान) हो। जिसमें महाप्रलय में जगत्समुदाय निहित (स्थापित) रहता है उसको निधान कहा जाता है। वह निधान तुम ही हो। यह 'आदिदेव' पद से सृष्टि का हेतु, "पुराणः पुरुषः" पद से स्थिति का हेतु तथा "परं निधानम्" से लय का हेतु कहकर भगवान् ही समस्त जगत् का उपादान कारण हैं ऐसा निर्णय किया है और सर्वज्ञता के कारण सांख्य-सम्मत जड़ प्रधान की निमित्तकारणता की व्यावृति (अस्वीकार) करते हुए सर्वज्ञ ईश्वर जगत् का निमित्त कारण भी है यह अब बताते हैं। **वेत्तासि**—तुम सब दृश्य को जाननेवाले हो। केवल तुम जानने वाले ही नहीं हो परन्तु **वेद्यं च**—जो कुछ वेद्य (ज्ञेय) अर्थात् जानने के योग्य है वह भी तुम ही हो। प्रश्न होगा, भगवान् यदि ज्ञाता व ज्ञेय अर्थात् द्रष्टा एवं दृश्य दोनों ही हो तब द्वैत का प्रसंग उपस्थित हो जाता है, इसपर कहते हैं कि वेद्य अर्थात् ज्ञेय वस्तु की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है कारण सब दृश्य वस्तु ही कल्पित अर्थात् मिथ्या है। अखण्ड, अद्वैत परमात्मा ही भ्रान्तिवश (माया से) वेद्य (दृश्य) वस्तुरूप से प्रतीत हो रहा है। इसलिए विष्णुपुराण में इस प्रकार कहा है—

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं निर्मलं परमार्थतः।
तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥ (वि० पु० १।२।६)

ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे॥

ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतनास्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं पारमेश्वरम्॥ (वि० पु० १।४।४०-४१)

अर्थात् एकमात्र पारमार्थिक सत्य, अत्यन्त निर्मल (शुद्ध) जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वही भ्रान्तिदर्शन-वशतः अर्थरूप में अर्थात् वेद्य (ज्ञेय) विषयों के रूप में प्रतीत होता रहता है। इसी ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही अज्ञानी लोग भ्रान्तिवशतः समस्त जगत् रूप में भासित देखते हुए मोहात्मक संसाररूपी नाव में भ्रमण कर रहे हैं। जो शुद्धचित्त होकर तत्त्वज्ञान लाभ कर चुके हैं वे समस्त जगत् को तुम परमेश्वर का जो शुद्धज्ञान (चैतन्य) स्वरूप है उसी रूप में दर्शन करते हैं। इसीलिए वेत्ता ही (ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही) एकमात्र पारमार्थिक सत्यवस्तु है और सब भ्रान्ति द्वारा कल्पित है। अतएव दृश्य अथवा वेद्य जो कुछ है वह कल्पित वस्तु होने के कारण उनका अकल्पित पारमार्थिक सद् वस्तुओं के साथ जो सम्बन्ध है अर्थात् वेत्ता व वेद्य का जो सम्बन्ध है वह भी कल्पित (मिथ्या) ही है। शुद्धचैतन्यस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) परमात्मा में अर्थात् सर्वत्र सम ब्रह्म की सत्ता में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। अतएव 'वेत्ता' व 'वेद्य' शब्दों का यहाँ प्रयोग होनेपर भी अद्वैत-हानि की सम्भावना नहीं है। अब प्रश्न होगा कि मुक्ति के लिए जो ब्रह्म का अवलम्बन करने के लिए श्रुति में उपदेश दिया गया है वह ब्रह्म क्या इस वेत्ता भगवान् से पृथक् हैं? इसके उत्तर में कहा है—नहीं, कारण (तथा) **परं च धाम**—परमधाम भी (मोक्षधाम भी) तुम्हीं (भगवान् ही) हो अर्थात् अविद्या एवं अविद्या के कार्य के सहित सम्पर्कशून्य सच्चिदानन्दस्वरूप विष्णु का जो परम पद (मोक्ष) है वह भी तुम्हीं हो। हे **अनन्तरूप !**—तुम्हारे रूप का अन्त (शेष) नहीं है, इसलिए तुम अनन्तरूप अर्थात् अपरिच्छिन्नस्वरूप हो। [परमात्मा कोई देश, काल या वस्तु द्वारा परिच्छिन्न या सीमित नहीं होते हैं, इस कारण से वे अनंत हैं, अनन्त ही (असीम ही) उनका रूप होने के कारण उनको अनंतरूप कहते हैं। अनंतरूप में व्याप्य और व्यापक का तथा ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रह सकता है। इसलिए अर्जुन कह रहे हैं—**त्वया इदं विश्वं ततम्**—तुमसे यह विश्व (सब जगत्रूप कार्य) व्याप्त है अर्थात् नामरूपात्मक यह कल्पित जगत् सत्ताशून्य होनेपर भी सत्स्वरूप एवं चित्स्वरूप (स्फुरण स्वरूप) तथा सर्वकारण के भी कारण तुमसे परिव्याप्त है। अभिप्राय यह है कि कल्पित जगत्रूप कार्य के तुम ही एकमात्र अधिष्ठान हो। अधिष्ठान की सत्ता के बिना कल्पित

वस्तु की अन्य कोई सत्ता नहीं रह सकती है, अतः तुम ही दृश्यमान प्रत्येक वस्तु के अणुपरमाणु में विद्यमान हो। इसलिए व्याप्य व्यापक कल्पित होने के कारण सबको व्याप्त करके भी तुम्हारी अद्वैत सत्ता की कोई हानि नहीं होती है क्योंकि तुम अनंत (पूर्ण) हो, अतः तुम्हारा परिच्छेद या अंत किसी से भी सम्भव नहीं है। अतएव इन कारणों से सब तुमको नमस्कार करते हैं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

टिप्पणी – (१) श्रीधर—(किंच) त्वम् आदिदेवः पुरुषः इत्यादि– (१) तुम देवों के आदि (कारण) हो क्योंकि (२) तुम अनादि पुराण पुरुष हो। (३) इसलिए तुम इस विश्व के परम निधान अर्थात् अन्तिम लयस्थान भी हो, (४) तुम ही विश्व के ज्ञाता (जानने वाले) हो तथा (५) जो जानने योग्य वस्तुमात्र है वह भी तुम ही हो, (६) जो परमधाम (विष्णु का परमपद) वह भी तुम ही हो हे अनंतरूप परमेश्वर ! (७) तुमसे ही यह विश्व व्याप्त है इसलिए इन सब सातों कारणों से तुम ही नमस्कार करने के योग्य हो अर्थात् सब तुमको नमस्कार करें, यह उचित ही है।

(२) **शंकरानन्द**—श्रुति में कहा है **'ब्रह्मैव इदं सर्वम्'**—अर्थात् ब्रह्म ही यह सब है। श्रुतियों के इस अर्थ के आधार पर सविशेष और निर्विशेष ब्रह्म तुम (भगवान्) ही हो ऐसा कह कर अर्जुन भगवान् की सर्वात्मता का प्रतिपादन करते हैं। **पुरुषः पुराणः**—पूर्ण होने से पुरुष एवं स्वयं निर्विकार होने से पुराण अर्थात् सनातन तथा **आदिदेवः**—जगत् का कारण होने से आदि और स्वयं ही प्रकाशित होने के कारण वह देव है। जो आदि भी है, देव भी है वह आदिदेव (सृष्टि के आदिकर्ता) कहलाते हैं। **त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्**–तुम (मायोपाधिक परमेश्वर) ही इस दृश्यमान विश्व के परम निधान हो अर्थात् जगत् के बीज माया हो [जैसे मिट्टी में घट इत्यादि, जल में तरंगादि अवस्थित है, ऐसे ही जिसमें महत् आदि सम्पूर्ण विकारसमूह स्थित है वह निधान है] **वेत्ता च वेद्यं च त्वमसि**– बुद्धि और उसके विकारभूत अहंकार-ममकार आदि को साक्षात् (व्यवधान के बिना) सर्वदा जो जानता है वह वेत्ता है। वह वेत्ता अर्थात् सब का साक्षी प्रत्यगात्मा तुम्हीं हो। बुद्धि और उसके विकारादि सम्पूर्ण दृश्यजात वस्तु ही वेद्य (ज्ञेय) है। तुम ही वेद्य हो।

परं च धाम—सम्पूर्ण दृश्य से विलक्षण होने के कारण सबसे पर अर्थात् महत्तम (श्रेष्ठ) जो माया है उस माया के कार्यलेश के सम्बन्ध से रहित तथा जीव, ईश्वर और जगत् की आभासरूप कल्पना के अधिष्ठान, नित्यशुद्ध बुद्धमुक्तस्वभाव, निर्विशेष, निराभास, नित्य आनंदैकरस, अद्वितीय जो तुरीय परम धाम (परम ज्योति) परमब्रह्म है वह भी तुम ही हो। **अनंतरूपः**—अनन्त अर्थात् अंतशून्यरूप, चिदात्मक स्वरूप जिसका है वह अनंतरूप है, वह भी तुम हो। **इदं सर्वं ततं त्वया**—सद्‌रूप ब्रह्मस्वरूप तुमसे यह भ्रमकल्पित सब जगत् प्रतीत होता है। अतः वह सब ही तुमसे व्याप्त है। जिससे जो व्याप्त होता है वह तन्मात्र ही होता है, इस न्याय से (नियम से) तुमसे व्याप्त यह सब जगत् केवल तुम्हारा ही स्वरूप है अर्थात् सब तुम ही हो। इस कारण तुम अद्वितीय अनन्तरूप हो।

(३) **नारायणी टीका**—और भी कारण है जिस कारण से तुमको सब नमस्कार कर रहें है कारण तुम आदिदेव हो अर्थात् तुम सबके आदि (परम कारण) हो और तुम्हारी उत्पत्ति का कोई दूसरा कारण नहीं है क्योंकि तुम स्वयं ही अपने को प्रकाशित करते हो अर्थात् स्वयंप्रकाश हो इसलिये तुम देव हो। तुम पुराण पुरुष हो अर्थात् पुरा अर्थात् सबके पूर्व होते हुए भी नित्य नव-नव रूप से तुम आविर्भूत होकर उस पुरी में शयन करते हो अर्थात् पूर्व से भी पूर्व तुम हो और नव से भी नव तुम हो एवं सबके हृदय पुरी में तुम सदैव आत्मरूप में विद्यमान हो इसलिए तुमको पुराण पुरुष कहते हैं। तुम इस विश्व के परमनिधान हो अर्थात् इस मायारचित विश्व का जब प्रलय होता है तब तुममें ही यह विश्व का बीज नि (निःशेष अर्थात् पूर्णरूप से) धीयते (स्थापित होता है) अतः तुमसे जिसप्रकार सृष्टि की स्थिति होती है, उसी प्रकार तुम में ही सारा विश्व लय हो जाता है। तुम्हीं इस विश्व के वेत्ता (ज्ञाता—जानने वाले) हो और जो कुछ जानने के योग्य अर्थात् सब दृश्य भी तुम ही हो। यह विश्व माया-रचित होने के कारण जो कुछ वस्तु वेद्य (दृश्य) है वे सब कल्पित ही है। वे सब तुमको अधिष्ठान करके हो प्रतीत हो रहे हैं। कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान सत्ता से पृथक् नहीं है, इसलिए तुम स्वरूपतः शुद्धचैतन्य स्वरूप द्रष्टा या साक्षी होते हुए भी दृश्य पदार्थ भी तुम्हारे बिना और कुछ नहीं है। जब मायारचित विश्व का उपशम हो

जाता है तब अविद्या या अविद्या के कार्य से रहित जो सच्चिदानन्दघन परमधाम (परमपद या मोक्षपद) है वही तुम्हारा यथार्थ स्वरूप है क्योंकि तुम अनन्त हो अर्थात् देश, काल तथा वस्तु तुमको आश्रय कर प्रतीत होने पर भी तुमको परिच्छिन्न अथवा सीमित नहीं कर सकते हैं। कल्पित वस्तु में जिस प्रकार अधिष्ठानसत्ता सर्वत्र व्याप्त रहती है उसीप्रकार सारा विश्व भी तुमसे ही व्याप्त है क्योंकि तुम्हारी सत्ता से ही वे सत्तावान् है तथा तुम्हारे स्फुरण (प्रकाश) से ही वे प्रकाशित होते हैं। अतएव जब तुम्हारे बिना जगत् में और कोई वस्तु ही नहीं है तब तुम्हारे तत्त्व को जानने वाले सभी पुरुष तुमको ही सर्वत्र एवं सर्वदा नमस्कार करेंगे, इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

[अर्जुन श्रद्धा से गद्गद होकर और स्तुति कर रहा है—]

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

अन्वय—त्वं वायुः, त्वं यमः, त्वम् अग्निः, त्वम् वरुणः, त्वं शशाङ्कः, त्वं प्रजापतिः, त्वं प्रपितामहः च । ते नमः नमः ते अस्तु, सहस्रकृत्वः, पुनः च भूयः अपि नमः नमः ते अस्तु ।

अनुवाद—तुम ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) एवं पितामह ब्रह्मा के भी पिता हो तुमको सहस्रबार नमस्कार है। तुमको फिर भी बार बार नमस्कार है।

भाष्यदीपिका—**त्वं वायुः, त्वं यमः, त्वम् अग्निः, त्वं वरुणः त्वं शशांकः त्वं प्रजापतिः त्वं प्रपितामहः च**—तुम ही वायु हो, तुम ही यम हो, तुम ही अग्नि, तुम ही जल के अधिपति वरुण, तुम ही शशांक (चन्द्रमा) तुम ही कश्यप, विराट, दक्ष, आदि, प्रजापति हो। फिर तुम ही पितामह ब्रह्मा के भी पिता हो। वायुः, यम, अग्नि, इत्यादि शब्द सूर्य आदि अन्य देवों को भी उपलक्षण रूप से सूचित कर रहे हैं अर्थात् कहने का अभिप्राय यह है कि तुम सर्व देवमय हो एवं इसलिए तुम्हीं सबके नमस्कार के योग्य हो। **अतः ते सहस्रकृत्वः नमः नमः अस्तु**—मुझ

दीन का भी तुमको हजारों-हजारों बार नमस्कार हो। सहस्र शब्द के पश्चात् 'कृत्वसूच्' तद्धित प्रत्यय युक्त कर सहस्रकृत्वः शब्द निष्पन्न हुआ है। बहुनमस्कार रूप क्रिया के अभ्यास (अर्थात् पुनः पुनः नमस्कार रूप अनुष्ठान की आवृत्ति हो रही है यह) सूचित करने के लिए 'कृत्वसूच्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। **पुनश्च भूयः अपिः नमः नमः ते अस्तु**—एवं तुमको फिर भी पुनः पुनः (बारम्बार) नमस्कार है। इस प्रकार पुनः पुनः नमस्कार का तात्पर्य यह है कि अर्जुन की भगवान के प्रति अपनी श्रद्धा तथा भक्ति के आतिशय्य (अधिकता) के कारण पुनः पुनः नमस्कार करने पर भी उनको संतोष नहीं हो रहा है अर्थात् सहस्रबार नमस्कार करते हुए भी अलंबुद्धि (पर्याप्त बुद्धि) का अभाव है।

टिप्पणी–(१) **श्रीधर**—[तुम सर्वदेवस्वरूप हो इस कारण से भी तुम सबके द्वारा नमस्कार करने योग्य हो–इस प्रकार स्तुति करते हुए अर्जुन स्वयं भी बारंबार नमस्कार करते हैं—] तुम वायु, यम, अग्नि, वरुण और चन्द्रमा हो। यहाँ वायु यमादि शब्द के उपलक्षण से भगवान् की सर्वदेवस्वरूपता का प्रतिपादन कर रहे हैं। [थोड़े शब्दों से समष्टि का ज्ञान कराने के लिए जो संकेत होता है उसे उपलक्षण कहा जाता है। अर्जुन और भी कह रहे हैं कि] तुम प्रजापति तथा पितामह ब्रह्मा हो और उनको भी उत्पन्न करनेवाला होने के कारण तुम जगत् के प्रपितामह हो, इसलिए तुमको सहस्रशः नमस्कार हो–फिर भी सहस्रबार नमस्कार हो, नमस्कार हो। इस प्रकार भक्ति श्रद्धा के भाव की अधिकता के कारण नमस्कार करने से तृप्त न होता हुआ अर्जुन बहुबार नमस्कार कर रहे हैं।

(२) **शंकरानन्द**—[पूर्ववर्ती श्लोक में जो कुछ कहा है उससे भगवान् सब कुछ है यही प्रतिपादन किया है। अब **'त्वं यज्ञस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कारः'**—(तुम यज्ञ हो, तुम विष्णु हो, तुम वषट्कार हो) इत्यादि श्रुति से कहे हुए अर्थ का प्रतिपादन करते हैं–] वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति (सब लोगों के पितामह चतुर्मुख ब्रह्मा तथा उन पितामह ब्रह्मा के भी पिता अर्थात् सबके प्रपितामह भी तुम ही हो, सब तुम ही हो। ऐसा कहकर भगवान की सर्वात्मता का डेढ़ श्लोक से प्रतिपादन करके अब श्रद्धा तथा भक्ति के वेग से सर्वात्मा परमेश्वर को 'नमो नमस्ते अस्तु' इत्यादि डेढ़ श्लोक से बारंबार नमस्कार करते हैं। बाकी सब अर्थ स्पष्ट है।

(३) **नारायणी टीका**—वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशांक (चन्द्रमा), दक्ष प्रजापति इत्यादि तथा पितामह ब्रह्मा एवं उनके भी स्रष्टा होने के कारण उनको भी उत्पन्न करनेवाली जो परम सत्ता हैं वे सब तुम्हीं हो अर्थात् केवल सर्व देवरूप में ही तुम विद्यमान नहीं हो बल्कि सब रूप में ही तुम विराजित हो। इसलिए सबके तुम्हीं एकमात्र सदा के लिए नमस्कार के योग्य हो। मैं भी तुमको सहस्रबार नमस्कार कर रहा हूँ। अर्जुन यह कहकर बारंबार नमस्कार करते हुए तृप्त नहीं हो सके अतः फिर सहस्र-सहस्रबार नमस्कार कर रहे हैं। जब भगवान की अतुलनीय अलौकिक महिमा भक्त देख लेते हैं एवं वही सब कुछ है यह जान लेते हैं तब भक्त अपने को पूर्णतया समर्पित करते हुए अतिशय श्रद्धा एवं भक्ति के वेग के कारण उनके चरणकमलों में ही पड़े रहते हैं यह ही सहस्र-सहस्रबार प्रणाम करने का तात्पर्य है।

[अब अर्जुन दूसरे प्रकार से भगवान की स्तुति करते हुए पुनः बारंबार नमस्कार करते हैं—]

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

अन्वय—ते पुरस्तात् नमः, अथ पृष्ठतः नमः, हे सर्व! सर्वतः एव ते नमः अस्तु; त्वम् अनन्तवीर्यामितविक्रमः, त्वं सर्वं समाप्नोषि, ततः सर्वः असि।

अनुवाद—तुमको आगे से और पीछे से नमस्कार है। हे सर्व! तुमको सब ओर से नमस्कार है। तुम अनंत बल वाले और असीम पराक्रम वाले हो. तुम सारे जगत् को व्याप्त किये हुए हो, इसलिए तुम सर्वरूप हो।

भाष्यदीपिका-ते पुरस्तात् नमः अस्तु-तुमको सामने से आगे के भाग में अर्थात् पूर्वदिशा में नमस्कार हो। [जो दिक् से सूर्य का उदय होता है वह पूर्वदिशा है। उस पूर्वदिशा में जो कुछ स्थित है वह तुम ही हो अर्थात् पूर्वदिशा में स्थित तुमको नमस्कार हो। 'पुरः नमस्तात्' ऐसा अन्वय करने पर अर्थ होगा-तुमको पहले नमस्कार है।] **अथ पृष्ठतः नमः**—('अथ' शब्द समुच्चय अर्थ में है) तुम्हारे पीछे से भी

तुमको नमस्कार हो। हे सर्वस्वरूप सर्वात्मा ! **सर्वतः एव ते नमः अस्तु**—आप को सब ओर से नमस्कार है अर्थात् सर्वत्र स्थित हुए तुमको सब दिशाओं में नमस्कार है। **त्वम् अनन्तवीर्यामितविक्रमः**—तुम्हारे वीर्य (सामर्थ्य) का अन्त नहीं है, इसलिए तुम अनन्तवीर्य हो। तुम्हारा विक्रम अमित है अर्थात् परिमाण करने योग्य नहीं है। जगत् में देखा जाता है कि बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनका सामर्थ्य है परन्तु अस्त्र शस्त्र व्यवहार करने के समय उनका पराक्रम नहीं रहता है अर्थात् वे वीर्यवान होकर भी अल्पपराक्रमशाली हैं किन्तु अर्जुन की दृष्टि में भगवान् का वीर्य (शक्ति) है अनंत (असीम) और उनका विक्रम अर्थात् शक्ति का प्रयोग करने की सामर्थ्य भी अमित (अर्थात् परिमाण करने के अयोग्य) है। [मधुसूदन सरस्वती की व्याख्या इस प्रकार है—वीर्य=शारीरिक बल और विक्रम=शिक्षा (शस्त्रप्रयोग की कुशलता)। वीर्य रहनेपर ही विक्रम होगा ऐसी बात नहीं जैसा कि भागवत में बलरामजी ने कहा है—**'एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्'**—इत्यादि अर्थात् मैं एक को (भीम को) बल में अधिक मानता हूँ और एक (दुर्योधन) को शिक्षा में बड़ा समझता हूँ किन्तु तुममें ऐसी बात नहीं है क्योंकि तुम तो अनन्त बलशाली एवं अपरिमेय विक्रमशील हो। [अथवा अनन्तवीर्य यह सम्बोधन है अर्थात् हे अनन्तवीर्य इस प्रकार सम्बोधन मानकर भी पद का अर्थ किया जा सकता है] **त्वं सर्वं समाप्नोषि**—तुम समस्त जगत् को अपने स्वरूप से [सद्रूप से अर्थात् सर्वात्मभाव से (मधुसूदन)] व्याप्त करके स्थित हो। [जिस प्रकार सुवर्ण उसके कार्यों को (कुण्डल, हार इत्यादि को) बाहर तथा भीतर व्याप्त कर स्थित है उसी प्रकार तुम भी सर्वभूतों की आत्मा होने के कारण बाहर भीतर सब व्याप्त कर स्थित हो—यह ही कहने का अभिप्राय है।] **ततः सर्वो असि**—इसलिए तुम सर्व (सर्वरूप) हो अर्थात् तुमसे अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[तथा]—**नमः पुरस्तात् इत्यादि—हे सर्व**—(सर्वस्वरूप), तुमको आगे से तथा पीछे से भी नमस्कार हो तथा सब ओर से (सभी दिशाओं में) नमस्कार हो। सर्वरूपत्व को सिद्ध करने के लिए कहते हैं—**अनंतवीर्य इत्यादि**—जिसका वीर्य (सामर्थ्य) अनंत हो तथा ऐसे ही जिसका पराक्रम भी

अपरिमित—असीम हो, इस प्रकार के प्रभाववाले तुम समस्त विश्व को ऐसे ही बाहर—भीतर से पूर्णरूप से व्याप्त किए हुए हो जैसे सोना कड़े, कुण्डलादि अपने कार्य को व्याप्त किए रहता है। इसलिए तुम सर्व (सर्वरूप) हो।

(२) **शंकरानन्द**—[भक्ति के वेग से अर्जुन के हृदय में जो अतिशय संतोष उत्पन्न हुआ था उसी की प्रेरणा से स्तुति करते हुए अर्जुन फिर सब ओर से भगवान् को नमस्कार करते हैं-] **हे सर्व-हे सर्वात्मन् ते पुरस्तात् पृष्ठतः नमः**—तुम सर्वात्मा को आगे से और पीछे से नमस्कार है **सर्वतो ते नमस्तु**—सर्वत्र ही तुमको नमस्कार है। 'हे सर्व' इस विशेषण से सर्वात्मा का पूर्वादि दिशाओं के रूप से यद्यपि विभाग नहीं हो सकता क्योंकि दिशाओं के विभाग का कारण है जो सूर्य उनका भी सर्वात्मा में अन्तर्भाव है तथापि 'आगे से नमस्कार है' यह अपनी (स्थूल) दृष्टि से कहा है किन्तु वस्तुगति से नहीं। 'हे सर्व' यह भी नामरूप की दृष्टि से कहा है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं—ऐसा मानना चाहिए। यदि ऐसा माना जाय अर्थात् शब्द के अर्थ को न माना जाय तब तो 'अनंत, जगन्निवास, आदिदेव' इत्यादि वाक्य के अर्थ का व्याघात होगा। इसलिए 'सर्व' शब्द के अर्थ को 'अनंत' इत्यादि से सिद्ध करते हैं। **अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वम्**—सब ओर से विशेषरूप से विस्तार करने योग्य वीर्य (तेज) जिसका है वही अनंतवीर्य है तथा जिसका विक्रम से व्यापन शीलत्व लक्षित है, अतः जिसका विक्रम अमित, असीम, अपरिमेय (परिमाण नहीं करने योग्य) है, वे अमित-विक्रम है। इन 'अनंतवीर्य' और 'अमितविक्रम' दोनों पदों का कर्मधारय समास करनेपर 'अनंतवीर्यामिनविक्रम' शब्द हुआ। यह हेतुगर्भित विशेषण है अर्थात् अनंतवीर्य और अमितविक्रम होने के कारण **त्वं सर्वं समाप्नोषि**—तुम सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो। जैसे बाहर-भीतर सब ओर से अग्नि से लौह पिण्ड व्याप्त होता है ऐसे ही चारोंओर वीर्य से, तेज से, स्फूर्ति से, विक्रम से, सत्ता से तुम सम्पूर्णरूप से व्याप्त हो **ततो असि सर्वः**—इसलिए तुम सर्व-आत्मक हो। इससे यह सूचित किया गया है कि नामरूपात्मक सब जगत् तुम ही हो। तुमसे अतिरिक्त अणुमात्र पदार्थ का भी निरूपण नहीं किया जा सकता है क्योंकि तुमसे कोई भी पदार्थ भिन्न होनेपर वह निरात्मक ही होगा।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन जितना ही भगवान् के स्वरूप तथा

उसकी महिमा का अनुभव कर रहे हैं इतना ही उनके हृदय में भगवान् के प्रति भक्ति का वेग तीव्र हो रहा है एवं वे संतोष तथा आनंद में डूब रहे हैं। नदियाँ जैसे समुद्र में डूब जाने के पहले अति तीव्र वेग से समुद्र में डूबने के लिए दौड़ती रहती हैं उसी प्रकार अर्जुन वारं वार नमस्कार करके भी तृप्त नहीं होते हुए भगवान् में लय होने के लिए तीव्र से तीव्र संवेग प्रकाश कर रहे हैं। जब तक भगवान् को सर्वत्र अनुभव नहीं करते हैं तब तक जीव अपनी सत्ता को भगवान् में लय भी नहीं कर सकता है। अर्जुन अब भगवान् को हीं सर्वत्र अर्थात् ऊर्ध्व, अधः, दक्षिण, वाम सर्वत्र ही भगवान् को ही देख रहे हैं, इसलिए वे सर्वात्मा भगवान् को आगे से, पीछे से तथा सब ओर से नमस्कार कर रहे हैं। उन्होंने जान लिया हैं कि भगवान् सर्व हैं अर्थात् सर्वरूप हैं अर्थात् सर्वकाल में, सर्वदेश में और सर्वरूप में वही एकमात्र नित्यसत्य रूप से विद्यमान हैं। ऐसा होना भगवान के लिए कोई असम्भव बात नहीं है क्योंकि वे अनंतवीर्य हैं अर्थात् उनकी शक्ति का कोई अंत अर्थात् सीमा नहीं है। शक्ति रहते हुए भी शक्ति के प्रयोग का कौशल नहीं भी रह सकता, इसलिए अर्जुन कह रहे हैं कि तुम केवल अनन्तवीर्य ही नहीं हो, तुम अमितविक्रम भी हो अर्थात् तुम्हारा पराक्रम भी अपरिमेय (असीम) है। इस प्रकार अनंतवीर्य तथा अमितविक्रम के प्रभाव से ही तुम समस्त विश्व को ऐसे व्याप्त करके रहे हो जैसे सोने के कार्यों में (हार, कुण्डलादि में) सोना कण कण में व्याप्त है। अतः तुम जगत् के निमित्त तथा उपादान कारण होने के कारण तुम ही सब हो। सर्व शब्द से यह सूचित कर रहा है कि जिस प्रकार हार कुण्डलादि रूप में सोना को ही भूलकर अज्ञानी लोग देखते हैं अर्थात् हार कुण्डलादि वाक्य का विलास मात्र है—यथार्थ सत्य वस्तु एक मात्र सोना ही है, उसी प्रकार मायारचित जगत् का नाम रूप वाणी का विलास मात्र ही है, यथार्थ सत्य वस्तु एकमात्र सच्चिदानन्दघन आत्मा ही है। इस प्रकार ज्ञान अथवा अनुभव को ही परमार्थ दर्शन कहा जाता है एवं ऐसा ज्ञानी सर्वभूत में अपनी आत्मा को एवं अपनी आत्मा में सर्वभूत को देखते हैं एवं विश्वप्रपञ्च में माया की लीला को अपनी आत्मा का ही विलास समझते हैं। सर्वभूतों में यथार्थ प्रेम एवं उनकी निष्कपट सेवा इत्यादि इस प्रकार आत्मदर्शन के पश्चात् ही सम्भव है, उसके पहले नहीं।

[इतने दिन अर्जुन भगवान् के माहात्म्य को न जानते हुए जो अपराध किए हैं उनके लिए इन दोनों श्लोंको में क्षमा प्रार्थना कर रहे हैं–]

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—इदं तव महिमानम् अजानता सखा इति मत्वा हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इति प्रसभं यत् उक्तं (तथा) प्रमादात् प्रणयेन वा अपि यत् हे अच्युत ! विहारशय्यासनभोजनेषु एकः (सन्) अथवा तत्समक्षं अवहासार्थं मया यत् असत्कृतः असि, अहम् अप्रमेयं त्वां तत् क्षामये ।

अनुवाद—तुम्हारी इस महिमा न जानकर तुम मेरे सखा (समवयस्क) हो ऐसा मैंने समझते हुए प्रमाद या प्रेम के कारण अपनी उत्कृष्टता दिखाते हुए जो हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे, इस प्रकार तुमको सम्बोधन किया है तथा एकान्त में अथवा दूसरे लोगों के सामने (अर्थात् सखाओं के सामने) हंसी में, खेलते हुए, सोते समय, बैठते समय, अथवा भोजन करते हुए तुम्हारा तिरस्कार किया है, हे अच्युत ! असीम प्रभावशाली तुमसे मैं इसके लिए क्षमा प्रार्थना करता हूँ ।

भाष्यदीपिका—इदं तव महिमानम् अजानता—तुम्हारी महिमा को अर्थात् तुम्हारे ऐसे विश्वरूप और महिमा (ऐश्वर्य की विशेषता) न जानने के कारण [यहाँ 'इदं' शब्द क्लीव लिंग है और 'महिमानम्' पुलिंग की द्वितीया विभक्ति का एकवचन है अतः दोनों पद में जो सम्बन्ध स्थापित हुआ है वह वैयाधिकरण्य अन्वय से हुआ है । दो पद जब समान विभक्ति में नहीं रहते हैं तब उनका जो अन्वय होता है उनको वैयाधिकरण्य अन्वय कहा जाता है । इसलिए 'महिमानम् तवेमम्' शुद्ध पाठ है कारण उसमें सामान्य अधिकरण में अन्वय हुआ है । **सखेति मत्वा हे कृष्ण हे यादव हे सखेति प्रसभं यत् उक्तं प्रमादात् प्रणयेन वा अपि**—

तुम मेरे सखा (समवयस्क) हो ऐसा समझते हुए मैंने प्रमाद से (चित्त की चञ्चलता के कारण) या प्रणय से (प्रेम के कारण) प्रसभ पूर्वक अर्थात् अपनी उत्कर्षता (उत्कृष्टता) दिखाने लिए हठपूर्वक जो 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे' इस प्रकार तुमको सम्बोधन किया है। अथवा **विहारशय्यासनभोजनेषु एकः अथवा तत्समक्षम् अपि अवहासार्थं मया यत् असत्कृतः असि**—अवहास के लिए (हंसी के लिए) पैरों से चलने फिरने क्रियारूप विहार के समय, शय्या में शयन करते समय आसन में अर्थात् बैठते हुए और भोजन करते समय (इन सब क्रियाओं के करते समय) अकेले में (एकान्त में) अर्थात् तुम्हारे परोक्ष में (पीछे) अथवा समक्ष अर्थात् तुम्हारे तथा सखाओं के सामने तुम्हारा जो कुछ अपमान (तिरस्कार) मेरे वचन और असत्कार द्वारा हुआ है **हे अच्युत**—हे सर्वविकार रहित परमात्मा [तुम तो सर्वदा विकाररहित होने के कारण अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हो, अत एव जितना ही तुम्हारा परिहास अथवा तिरस्कार मैंने किया उससे तुम्हारा किसी प्रकार असंतोष या विकृति होना सम्भव नहीं है, अतः तुम अनायास ही मेरे समस्त अपराध क्षमा करोगे, यह मेरा विश्वास है। इस प्रकार के भाव को सूचित करने के लिए ही अर्जुन ने यहाँ भगवान् को 'अच्युत' कहकर सम्बोधन किया] **अप्रमेयं त्वां तत्क्षामये**—उन सब वचनरूप तथा असत्काररूप अपराधों के समुदाय को मैं तुम अप्रमेय से अर्थात् प्रमाण-अतीत-परमेश्वर से क्षमा चाहता हूँ। [केवल अवहास (हंसी) करना ही मेरा उद्देश्य था अतः केवल हँसी के लिए परोक्ष-अपरोक्षरूप से अर्थात् तुम्हारे पीछे नहीं तो सामने तुम मुझसे असत्कृत (अनादृत या तिरस्कृत) होने के कारण जो मेरा अपराध हुआ है, उन सब अपराध समुदाय को क्षमा करने के लिए मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। तुम्हारी अचिन्त्य महिमा नहीं जानने के कारण ही इस प्रकार अपराध मुझसे हुआ है परन्तु उससे तुम्हारी किसी प्रकार की हानि या वृद्धि नहीं हुई है क्योंकि तुम अच्युत हो अर्थात् नित्यशान्त स्वरूप से कभी च्युत (विचलित) नहीं होते हो और तुम अप्रमेय भी हो अर्थात् तुम अनंतशक्तिमान् हो (सर्वप्रमाणों से तुम अतीत हो) अतः शरणागत भक्तों का सर्व अपराध क्षमा करना तुम्हारे लिये अति सहज हीं हैं, यह ही कहने का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अत्र सखेति इत्यादि दो श्लोकों द्वारा अर्जुन

भगवान् से क्षमा चाहते हैं।-] **सखा इति मत्वा प्रसभं यत् उक्तम् इत्यादि**-तुमको मैंने प्राकृत (साधारण) सखा मानकर जो कुछ प्रसभ पूर्वक अर्थात् हठपूर्वक या तिरस्कारपूर्वक अनुचित कहा है उसकी तुमसे क्षमा चाहता हूँ। इस प्रकार इस श्लोक के वाक्य का परवर्ती श्लोक में आए हुए 'त्वां क्षामये' इस वाक्य के साथ अन्वय है। क्या तिरस्कारपूर्वक वचन बोला यह अब कहते हैं-**हे कृष्ण हे यादव हे सखेति**-यहां 'हे सखेति' पद में जो गुणसन्धि है वह आर्ष है। अनुचित उक्ति में कारण यह था कि तुम्हारी महिमा को और विश्वरूप को मैंने नहीं जाना था। अतः मेरे द्वारा प्रमादवश अथवा प्रणय से (स्नेह के कारण) जो कुछ कहा गया हो उसकी क्षमा चाहता हूँ अर्थात् उसको (अपराध को) क्षमा करने के लिए मैं तुम्हारे समक्ष प्रार्थना करता हूँ। **यत् च अवहासार्थम् असत्कृतः असि इत्यादि**-हे अच्युत ! परिहास के निमित्त जो खेल आदि में अथवा घूमते, फिरते, सोते, बैठते और भोजन करते समय एवं अकेले रहने पर (सखा से रहित गुप्त-स्थान में छिपे रहने पर) अथवा उनलोगों के सामने अर्थात् उन परिहास करते हुए सखाओं के सम्मुख ही मेरे द्वारा तुम्हारा जो तिरस्कार किया गया हो, उस समस्त अपराधमात्र को अप्रमेय अर्थात् जिनका प्रभाव-चिन्तन करने से भी नहीं जाना जा सकता है ऐसे तुमसे मैं क्षमा चाहता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—इसप्रकार स्तुति करके नमस्कार करके पहले किए गए अपने अपराध को क्षमा कराते हैं। तव-तुम्हारी अर्थात् अपरिमित तेज, बल, वीर्य और समग्र ऐश्वर्य से सम्पन्न सर्वोत्तम सृष्टि के आदिकर्ता परमेश्वररूप तुम्हारी **इदं महिमानम्**-चारों ओर दिखाई दे रही इस महिमा को (विश्वरूप को) **अजानता मया**-न जानने वाले मैंने **सखा इति मत्वा**-अपना यह सखा है अर्थात् स्नेह का पात्र तथा मातुल का पुत्र है ऐसा मानकर **हे कृष्ण हे यादव हे सखा इति प्रमादात् प्रणयेन वा अपि प्रसभं यद् उक्तम्**-हे कृष्ण हे यादव हे सखा ऐसा प्रमाद से अथवा स्नेह से या हठ से भला-बुरा जो कुछ कहा है **तत्क्षामये**-उस सबको क्षमा करो। इसप्रकार मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ। आगे के श्लोक के साथ वर्तमान-श्लोक का इसप्रकार सम्बन्ध है। **'सखेति'** इस पद में सन्धि आर्ष है 'महिमानं तवेदम्'-ऐसा पाठ प्रचुर (अधिक) मिलता है। "तवेमम्" ऐसा दूसरा पाठ भी है। 'तव इदं

महिमानम्'' पद में 'इदम्' पद नपुंसक लिंग में एवं 'महिमानम्' पद पुलिंग में है अतः 'कन्येयं कुलभूषणम्' (यह कन्या कुलभूषण है) इसके समान लिंग के व्यतिक्रम होते हुए सामानाधिकरण्य हुआ है। इस कारण 'इदं' शब्द के पुलिंग होने में कोई ध्यान देना नहीं चाहिए। **हे अच्युत !**–(श्लोक ४१) जो च्युत नहीं होता है जो सर्वदा एक रूप से अर्थात् कूट के समान (राशि के समान अथवा पहाड़ की ऊँची चोटी के समान अथवा लोहार के निहाई के समान) अविक्रियरूप से स्थित रहता है, वह अच्युत है। अतः 'अच्युत' शब्द का अर्थ है विकाररहित परमात्मा। **विहारशय्यासन-भोजनेषु**–विहार में, क्रीडा में, शय्या में, शयन में, आसन में, सिंहासन में, परिस्तरण आदि में, बैठने में, भोजन में, अन्नजलादि के आहार में **एकः अथवा तत्समक्षम्**–एकान्त में जब तुम अकेले ही रहते थे तब अथवा बहुतों के समक्ष (सामने) **यत् च अवहासार्थम् असत्कृतः असि**—मैंने ये मेरे मामा का पुत्र है इसप्रकार बुद्धि से परिहास के (हंसी के) लिए जो-जो और जितना अपमान किया है **तत् तत् त्वां अप्रमेयम् क्षामये**–उन सब अपराधों के लिए अप्रमेय (अचिन्त्य-महिमा सम्पन्न परमेश्वररूप) तुमसे मैं क्षमा चाहता हूँ अर्थात् उन सब अपराधों को तुम क्षमा कर दो, ऐसी मेरी प्रार्थना है (श्लोक ४२)।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन ने विश्वरूपदर्शन करने के पश्चात् भगवान् ही सर्वरूप में विद्यमान हैं एवं समस्त जगत् उनकी शक्ति का विलास ही है, यह जानकर अबतक अज्ञान अवस्था में किसी के साथ जो कुछ व्यवहार किया है, किसी को जो कुछ कहा है, प्रमाद से (बुद्धि की विकलता से) या प्रणय से (स्नेहजनित मोह के कारण) अथवा हठपूर्वक हंसी में जो कुछ कहा है अथवा विहार करते हुए (भ्रमणादि क्रिया करते हुए) सोते हुए, आसनपर बैठते हुए अथवा भोजन करते हुए अकेले या सबके सामने जो कुछ किया है उनसब व्यवहार एकमात्र अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इत्यादि प्रमाणों से अतीत) अप्रमेय सर्वात्मा भगवान् के साथ ही किए गए हैं, यह अब समझते हुए लज्जित होकर अपने को महापराधी मान रहे हैं क्योंकि विश्व में सर्वरूप से एकमात्र भगवान् ही विश्वनाटक करते हुए अपनी महिमा का प्रकाश कर रहे हैं। इस महिमा को न जानने के कारण ही अर्जुन अनन्त भगवान् को

विभिन्न नाम और रूप में साधारण मनुष्यरूप से सीमित मानते थे, यह ही असत्कार अथवा तिरस्कार है। इसप्रकार सीमित दृष्टि से अनादि तथा सबसे पुराण पूर्ण भगवान् को किसी समय सखा (समवयस्क) किसी समय वसुदेव का पुत्र कृष्ण, किसी समय यदुकुल से उत्पन्न गोपालरूप से जीवरूपी अर्जुन देखते थे किन्तु अब ज्ञान-दृष्टि से उनको ही अच्युत भगवान्‌रूप से अर्थात् सर्वविकाररहित प्रपञ्चरहित शिवस्वरूप अद्वैतस्वरूप अप्रमेय (अनंत शक्तिसम्पन्न) आत्मा के रूप से देख रहे हैं। इसके लिए पहले किए हुए अज्ञानजनित सब अपराधों की क्षमा कराने के लिए उन सर्वात्मा भगवान् के पास क्षमा याचना कर रहे हैं यह साधनराज्य में एक अपूर्व अवस्था है एवं सब साधक ही जब भगवान् की कृपा से ज्ञानरूप दिव्यदृष्टि प्राप्तकर भगवान् के यथार्थ स्वरूप जान लेते हैं तब ऐसा ही सहस्र-सहस्रवार सिर नतकर नमस्कार करते हैं और भगवान् को क्षमा के लिए प्रार्थना करते हैं क्योंकि उनका समस्त अहंकार-चूरचूर होने के कारण एकमात्र प्रणाम तथा क्षमा याचना के विना उनके पास और कुछ नहीं रहता है।

[पूर्वश्लोक में भगवान् को अप्रमेय (अचिन्त्य) कहकर अर्जुन ने स्तुति की उस अचिन्त्य प्रभावता का ही अब विस्तार कर रहे हैं—]

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

अन्वय—हे अप्रतिमप्रभाव ! त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता असि, पूज्यः च (असि), गुरुः च (असि) गरीयान् च (असि) लोकत्रये अपि त्वत्समः अन्यः न अस्ति अधिकः कुतः ?

अनुवाद—हे अचिन्त्य ! तुम इस चराचर जगत् के (स्थावर जंगमात्मक समूह के) पिता हो। केवल जो तुम इनके पिता हो ऐसा नहीं बल्कि तुम सकल जगत् के पूज्य भी हो क्योंकि तुम सबके गुरु हो (शास्त्रों के उपदेश करने वाले हो)। तुम केवल गुरु ही नहीं हो बल्कि गुरुतर हो क्योंकि तीनों लोकों में तुम्हारे समान कोई नहीं है फिर और कोई अधिक तो कहाँ से हो सकता है ?

भाष्यदीपिका—अप्रतिमप्रभाव ! जिससे किसी वस्तु की समानता की जाय

उसका नाम 'प्रतिमा' है। तुम्हारे प्रभाव की कोई प्रतिमा (समानता) नहीं हैं। इसलिए तुमको अप्रतिमप्रभाव [निरतिशय (सर्वश्रेष्ठ) या अतुलनीयप्रभाव] कहते हैं। **त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता असि**—तुम इस चराचर (स्थावरजंगमात्मक) लोकों (प्राणियों) के पिता अर्थात् जन्मदाता हो। केवल जो तुम जगत् के पिता ही हो ऐसा नहीं है बल्कि **त्वं पूज्यः च असि**—तुम सकल जगत् के पूज्य (पूजा के योग्य अर्थात् पूजनीय) भी हो क्योंकि **गुरुः च असि गरीयान् च असि**—क्योंकि सकल जगत् के तुम गुरु हो कारण तुम्हारे विश्वास से ही वेदादि शास्त्र उद्‌भूत होने के कारण तुमही वस्तुतः सब शास्त्रों के उपदेष्टा हो। तुम गुरुतर भी हो क्योंकि सूत्रात्मा अर्थात् हिरण्यगर्भादि जो समस्त लोकों के गुरुरूप से प्रसिद्ध हैं तुम उनके भी गुरु हो। ['पूज्यः च' इस पद का 'च' शब्द 'गुरु और गरीयान्' दो शब्दों के साथ संयुक्तकर अन्वय करना होगा। जिसका अनेक गुण है वही लोक में पूज्य होता है परन्तु तुम सबके ईश्वर हो अतः तुममें गुणों की जो अतिशयता (आधिक्य) है वह अन्य किसी में सम्भव नहीं है अर्थात् तुम्हारे समान भी कोई नहीं हैं एवं तुमसे बढ़कर तो कोई हो ही नहीं सकता। अतः तुम सर्व जगत् के पूज्य होओगे इसमें आश्चर्य की क्या बात है तुम गुरुरूप से सबके पूज्य हो इसमें और एक विशेष कारण यह है कि तुम धर्मसम्प्रदाय तथा आत्मज्ञान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हो एवं सर्वधर्म के प्रवर्त्तक तथा आदि शास्त्र के द्रष्टा हो तथा धर्म संस्थापन करने के लिए युग-युग में अवतीर्ण होकर सनातन धर्म को प्रतिष्ठित करते हो। भगवान् सर्वापेक्षा गुरुतर क्यों है ? उसका अब विस्तार कर रहे हैं—**लोकत्रये अपि त्वत्समः अन्यः न अस्ति**—तीनों लोकों में तुम्हारे सम (सदृश) या समान दूसरा कोई नहीं है। **अधिकः कुतः**—प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर तो भगवान् श्रीकृष्ण के समान हो सकता है इसके उत्तर में अर्जुन के कहने का अभिप्राय यह है कि जगत् में दो ईश्वर होने पर उभय (दोनों ही) स्वतन्त्र होंगे एवं जागतिक कोई व्यापारों के सम्बन्धों में उनके सहमत नहीं भी हो सकते। यदि पृथक् पृथक् ईश्वर का मत पृथक् पृथक् हो तब एक ईश्वर यदि सृष्टि आरम्भ करें और दूसरा ईश्वर यदि संहार करने की इच्छा करें तो जगत् के सभी व्यापार में विपर्यय उपस्थित हो जायगा अर्थात् जागतिक

व्यापार का अवश्य ही लोप जायगा। इसलिए किसी प्रकार से ईश्वर का नानात्व स्वीकार्य नहीं है (आनंदगिरि)। अतः सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त लोकों के एकमात्र ईश्वर है। जबकि सारे त्रिभुवन में उनके समान ही दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है अर्थात् यह किसी प्रकार से सम्भव है ही नहीं। इसलिए अर्जुन भगवान् को अप्रतिमप्रभाव कहकर सम्बोधन कर रहे हैं क्योंकि उनके समान या उनसे बड़ा और कोई नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अर्जुन अब अचिन्त्यप्रभाव का ही वर्णन करते हैं—**हे अप्रतिमप्रभाव**—जिसकी कोई प्रतिमा अर्थात् समानता न हो वह अप्रतिम-प्रभाव कहा जाता है। **पितासि लोकस्य चराचरस्य इत्यादि**—तुम इस चराचर प्राणियों को उत्पन्न करने वाले जनक (पिता) हो, अतः तुम सर्वलोक के पूज्य हो, गुरु हो, और गुरु से भी गुरुतर हो। इसलिए तीनों लोकों में भी जब तुम्हारे समान कोई नहीं है क्योंकि तुमसे अतिरिक्त जब अन्य परमेश्वर का अभाव है, अतः तुमसे अधिक तो दूसरा कोई हो ही नहीं सकता है।

(२) शंकरानन्द—[जैसे तुम्हारे गद, साम्ब आदि सम्बन्धी है ऐसे ही मैं भी हूँ, तो मुझसे तुम क्षमा चाहकर क्यों प्रार्थना करते हो ऐसी यदि आशंका हो तो वह युक्त नहीं है क्योंकि तुम सब लोगों के पूज्य परमेश्वर हो। अब अर्जुन हेतुसहित उस पूज्यत्व का प्रतिपादन करते हैं] **पिता असि लोकस्य चराचरस्य**—चर एवं अचर रूप (दृश्यमान स्थावर जंगमात्मक) इस लोक के (सम्पूर्ण प्राणियों के) तुम पिता (जनक) हो। श्रुति में कहा है 'यतो वा इमानीति' जिससे यह भूतसमूह की सृष्टि, स्थिति, प्रलय होते हैं, वही सर्वात्मा परमेश्वर है। इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि तुम ही सर्वभूत के उत्पन्न करने वाले पिता हो। **त्वम् अस्य पूज्यश्च गुरुः गरीयान्**—केवल सबलोकों के तुम पिता ही नहीं हो किन्तु महान् गुरु भी हो। सब अनर्थों की बीजभूत अविद्या और उसके कार्य जगत् के नाशक तत्त्वज्ञान के उपदेश से तुम **गरीयान्**—(सर्वोत्तम) हो तथा सबके गुरु भी हो इसलिए तुम मेरे परन्तु सब लोगों के पूज्य हो। यदि कहो कि मुझसे भी अधिक पूजनीय ब्रह्मा है ही, तो उस पर कहते हैं—**लोकत्रये अपि न त्वत्समः अस्ति, अभ्यधिकःअ न्यः कुतः**

'आत्मन आकाशः सम्भूतः इति' अस्य महतो भूतस्य इति—अर्थात् आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, उन महाभूतों के श्वास ऋग्वेदादि हैं, इस प्रकार श्रुतिवचन से तुम परमेश्वर आकाश आदि सब भूतों के जनक (सृष्टि करने वाले) हो और धर्मज्ञान के मूलभूत (मूलस्वरूप) सब वेदों के उपदेश-कर्त्ता भी हो। इन सब कारणों से तुम्हीं तीनों लोकों में **गरीयान्**—अर्थात् महत्तम (सर्वोत्कृष्ट) हो, तुम्हारे समान दूसरा नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सदृश यदि और कोई ईश्वर रहे तो दो ईश्वर की सिद्धि होने पर सम्पूर्ण जागतिक व्यवहार के लोप का प्रसंग आयगा। दूसरा ईश्वर होने पर एक की सृष्टि करने की इच्छा यदि हो एवं साथ-साथ दूसरे की संहार करने की इच्छा यदि हो तब कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए तुम्हारे समान दूसरा कोई नहीं है। तुम्हारे समान दूसरे का होना ही जब असम्भव है तब उक्त धर्म से युक्त तुम से महत्तम दूसरा कहाँ से होगा ? अर्थात् कोई नहीं है। क्योंकि श्रुति भी कहती है—**न तत्समश्च अभ्यधिकश्च दृश्यते**—अर्थात् न उसके समान और न उससे अधिक दूसरा दिखाई देता है। तुम्हारे (भगवान् के) समान पुरुष नहीं है इसमें हेतु बतलाते हैं **अप्रतिम-प्रभाव**—जिससे प्रतिमित (तुलना) किया जाता है वह प्रतिमा है अर्थात् सादृश्य। जिसका वह सादृश्य विद्यमान नहीं है वह अप्रतिम है। अप्रतिमप्रभाव (सामर्थ्य) [अर्थात् प्रपञ्च के बन्धन, मोक्ष आदि कार्यों के घटन और विघटन में पटुतारूप माया के योग से उत्पन्न हुई सामर्थ्य] जिसकी है, वह अप्रतिमप्रभाव है उसकी सम्बुद्धि है हे अप्रतिमप्रभाव अर्थात् निरतिशय महत्त्व से सम्पन्न।

नारायणी टीका—भगवान् की कल्पना से (मायाशक्ति से) चर एवं अचर अर्थात् स्थावर जंगम सभी लोग की सृष्टि हुई है। अतः भगवान् ही सबके पिता हैं, भगवान् ही सब के ईश्वर है अर्थात् सबके हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित होकर सबको जगत् के कार्य में प्रवृत्त करा रहे हैं। भगवान् ही गुरु है अर्थात् सबके हृदय में आत्मा-रूप में विद्यमान होकर सर्वदा ही क्या करना कर्तव्य है यह निर्णय करता है। बाहर के गुरु का निर्वाचन तथा उनके उपदेश का पालन तबतक नहीं होता है जबतक अन्तर्निहित आत्मारूप गुरु उसको स्वीकार नहीं करते हैं। अतः भगवान् केवल गुरु ही नहीं है अर्थात् गुरु से भी गरीयान् है। उनकी अनुमति तथा स्वीकृति के बिना जीव कोई भी

काम करने में समर्थ नहीं होता है। सर्वलोकों का पिता होने के कारण, अन्तरात्मारूपसे गुरु होने के कारण एवं बाहर के गुरु से भी श्रेष्ठ होने के कारण, तथा गुरुतर होने के कारण अर्थात् सर्वप्रकार से श्रेष्ठ होने के कारण ही भगवान् एकमात्र पूज्य हैं। वस्तुतः भगवान् से अतिरिक्त जो कुछ दिखाई पड़ता है यह सब काल्पनिक (मिथ्या) है। अतः भगवान् ही एकमात्र सत्य वस्तु होने के कारण उनके समान और किसी का होना सम्भव नहीं है। उनके समान-द्वितीय कोई वस्तु अथवा द्वितीय कोई ईश्वर सम्भव नहीं है और यदि समान ही कोई नहीं है तो उनसे अधिक होना कैसे सम्भव है अर्थात् उनसे अधिक कोई नहीं है। इसलिए अर्जुन ने भगवान् को अप्रतिमप्रभाव अर्थात् अतुलनीय शक्ति सम्पन्न कहकर सम्बोधन किया। जिसके प्रभाव की कोई प्रतिमा (समानता) नहीं है अर्थात् जिनके समान या अधिक प्रभावशाली दूसरा कोई नहीं है उनको ही 'अप्रतिमप्रभाव' कहा जाता है।

[जिस कारण से तुम भगवान् अप्रतिमप्रभाव हो उस कारण से—]

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—हे देव ! तस्मात् अहं कायं प्रणिधाय प्रणम्य इड्यम् ईशं त्वां प्रसादये पिता पुत्रस्य सखा सख्युः इव प्रियः प्रियायाः (इव) सोढुम् अर्हसि।

अनुवाद—इसलिए प्रणाम करके और शरीर को दण्ड के समान पृथ्वी पर गिरा कर मैं पूज्य तुम ईश्वर को प्रसन्न करता हूँ। हे देव ! जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता, सखा के अपराध को सखा, प्रिया के अपराध को प्रियतम सह लेता है उसी प्रकार तुमको मेरा अपराध सहन कर लेना उचित है।

भाष्यदीपिका—हे देव ! हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! **तस्मात्**—जिस कारण से तुम अप्रतिमप्रभाव अतुलनीय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हो इस कारण से **अहं कायं प्रणिधाय प्रणम्य**—मैं अपने शरीर को **प्रणिधाय**—प्रकृष्टरूप से (भली प्रकार) नीचा करके अर्थात् तुम्हारे चरणों में दण्डवत् प्रणाम करके **ईड्यम् ईशम्**

त्वाम् प्रसादये—स्तुति करने योग्य (आराधनीय, पूज्य) शासनकर्ता तुम ईश्वर को अर्थात् सबके नियन्ता परमेश्वर को प्रसन्न करता हूँ अर्थात् जिससे तुम मेरे प्रति प्रसन्न हो जाओ इसलिए मैं इस प्रकार कर रहा हूँ। अब प्रश्न हो सकता है कि प्रसन्न होकर तुम्हारे प्रति मुझे क्या करना उचित है ? इसपर अर्जुन कहते हैं-**पिता पुत्रस्य सखा सख्युः इव, प्रियः प्रियाया इव सोढुम् अर्हसि**—जैसे पुत्र का समस्त अपराध पिता क्षमा करता है, जैसे मित्र का अपराध मित्र एवं प्रिया का अपराध प्रिय पति क्षमा करता है (सहन करता है), ऐसे ही **हे देव !**—हे स्वयंप्रकाश आत्मा तुमको भी मेरे समस्त अपराधों को सर्व प्रकार से सहन करना अर्थात् क्षमा करना उचित है। [**प्रियः प्रियायार्हसि**— यहाँ छंद के अनुरोध से इव शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। **प्रियायाः + अर्हसि=प्रियाया अर्हसि**—इस प्रकार सन्धि होना उचित था किन्तु उक्त छन्द के अनुरोध से ही फिर दोनों पद की सन्धि होना निषिद्ध होनेपर भी '**प्रियायार्हसि**'—इस प्रकार सन्धि की गई है–यह आर्ष है।]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—तस्मात् प्रणम्य इत्यादि—जबकि ऐसा है [इसलिए स्तुति करने योग्य तुम ईश्वर को (जगत् के स्वामी को) मैं प्रसन्न करता हूँ। क्या करके प्रसन्न करोगे **उत्तर**—शरीर को दण्ड के समान चरणों में गिराकर प्रकृष्टरूप से (भलीभाँति) नमस्कार करके तुमको प्रसन्न कराना चाहता हूँ। इसलिए हे देव **पितेव पुत्रस्य इत्यादि**—तुमको मेरे अपराध को सहन करना (क्षमा करना) उचित है। किसके अपराध को किस प्रकार से सहन करूंगा ? इस पर कहते हैं—**पितेव पुत्रस्य इत्यादि**—जिस प्रकार पुत्र के अपराध को पिता कृपापूर्वक सहन करते हैं, जिसप्रकार मित्र के अपराध को मित्र (निष्कपट बन्धु) सहन करते हैं और जिस प्रकार प्रिया के अपराध को प्रियतम पति उसको प्रिय करने के लिए सहन करते हैं, उसी प्रक.र मेरे अपराध को तुम सहन करो–यही तात्पर्य है।

(२) **शंकरानन्द**—जगत् के गुरु और जनक होने से तुम सर्व लोकों के पूज्य परमेश्वर हो। तुम्हारे प्रति अपराध करना मेरे लिए उचित नहीं था। प्रमाद से जो अपराध हो गया है उसे क्षमा करो यह प्रार्थना करता हूँ। ऐसा कहकर अर्जुन प्रणाम-

पूर्वक भगवान को प्रसन्न करते हैं। जिसकारण से तुम परमेश्वर (निरतिशय माहात्म्य से सम्पन्न) हो इसलिए मैं शरीर का प्रणिधान कर (आठ अंगों से पृथिवी को स्पर्श कर उस पर शरीर को स्थापन कर) ब्रह्मा आदि द्वारा भी स्तुति करने के योग्य तुमको प्रणाम करके प्रसन्न करता हूँ अर्थात् प्रसन्न होओ, ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! तुमसे मेरी यही प्रार्थना है कि जैसे पिता पुत्र के अपराध को, सखा मित्र के अपराध को, एवं प्रिय प्रिया (स्त्री) के अपराध को क्षमा करता है ऐसे ही मेरे अपराध को तुम क्षमा करो। 'प्रियाया अर्हसि' इसमें सन्धि आर्ष है।

(३) **नारायणी टीका**—जिस समय भक्त भगवान् के अतुलनीय महिमा का (अप्रतिमेय प्रभाव) का साक्षात् अनुभव करता है तब भगवान् की स्तुति तथा उनके कीर्तन के बिना भक्त का अन्य कोई कार्य नहीं रहता है। जितनी ही उनको स्तुति होती रहती है उतनी भक्ति के बाढ़ से चित्त प्लावित होता है अतः भगवान् का माहात्म्य सर्वत्र देखकर शरीर का प्रत्येक अंग भूमि में स्पर्श करके बारंबार भगवान् को सर्व रूप में प्रणाम करने के लिए उनकी स्वतः ही इच्छा होती है। भागवत में भी भगवान् ने उद्धव को ऐसे ही कहा 'प्रणमेत् दण्डवत् भूमौ आश्वगोखरचण्डालम्' अर्थात् हे उद्धव ! मैं सर्वत्र, सर्वरूप में स्थित हूँ अतः कुत्ते, गायें, गधे, चाण्डाल को भी देखकर भूमि उपर दण्डवत् साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। अर्जुन को भी भक्ति की अतिशयता के कारण वही अवस्था प्राप्त हो गई अर्थात् अर्जुन की ज्ञानदृष्टि में सर्वत्र एवं एकमात्र सर्ववस्तु में चैतन्य स्वरूप ईश्वर ही यथार्थ (सत्य) वस्तु है। इसलिए वे ही एकमात्र पूज्य हैं। अतः अर्जुन जो शरीर का प्रत्येक अग भूमि को स्पर्श कर भगवान् को प्रणाम कर प्रसन्न कर रहे हैं, यह युक्त ही है अर्थात् सभी अनन्य भक्तों के लिए ही स्वाभाविक है। प्रत्येक जीव अनादि काल से भगवान् से अपने को पृथक् मानकर मैं-मेरा, तू तेरा इस प्रकार की द्वैतबुद्धि को आश्रय कर इस प्रकार अनादि काल से सर्वत्र समभाव से अवस्थित भगवान् का तिरस्कार करता आ रहा है। उन पुञ्जीभूत अपराधों की क्षमा के लिए एक ही उपाय सर्वशास्त्रों में प्रसिद्ध है वह है अहंकार का बलिदान करके पूर्णरूप से एकमात्र भगवान् की शरण लेना इस प्रकार की शरणागति से ही भगवान् को यथार्थरूप से प्रसन्न कर सकता है एवं उनकी कृपा से सर्व पापों से मुक्त होना सम्भव है। दूसरा कोई उपाय नहीं

है (गीता १८।६६) पूर्ण शरणागति का प्रधान लक्षण है उनका अस्तित्व सर्वत्र अनुभव करके उनके चरण कमलों में दण्डवत प्रणाम। पहले ही कह चुके हैं कि वह ही उनकी प्रसन्नता का कारण है। इसलिए अर्जुन भी प्रणाम करते हुए कह रहे हैं कि **'प्रसादये'**– अर्थात् मेरे सारे अपराध की क्षमा के लिए तुमको मैं प्रसन्न कर रहा हूँ।

जागतिक व्यवहार में देखा जाता है कि दूसरे का महत्त्व अथवा प्रभाव जितना ही हमलोग मान लेते हैं, उतनी ही अपने भीतर एक दीनता की सृष्टि होती है अर्थात् प्रभावशाली व्यक्ति से जो उनका प्रभाव स्वीकार करनेवाले व्यक्ति को पृथक्त्व (भेद) तथा हीनत्व बुद्धि दिन-दिन बढ़ती जाती है किन्तु आध्यात्मिक जगत् में नियम विपरीत है जितनी ही भगवान् की महिमा हमलोग स्वीकार कर लेते हैं एवं अहंकार की दीनता की वृद्धि होती है उतना ही जीव भगवान् के पास अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप में पहुँच जाता है। इस प्रकार भक्त पहले भगवान् और अपने में पिता-पुत्र के भाव पोषण करते हैं तथापि पिता के लिये पुत्र को कुछ भय, शंका एवं भेद-भाव रहता है किन्तु मित्र के प्रति मित्र का इस प्रकार भय शंका आदि भाव नहीं रहते हैं। इसलिए अर्जुन ने पहले कहा है कि पिता जैसे पुत्र का अपराध क्षमा कर देता है किन्तु यह कहकर ही फिर उनका मन भगवान् के और निकट पहुँच गया एवं वे कहने लगे सखा जिस प्रकार सखा का अपराध क्षमा कर लेता है किन्तु यह कहकर भी अर्जुन सन्तुष्ट नहीं हो सके। उसके हृदय का प्रेम भगवान् के पास पहुँचकर उनके आलिंगन का सुखास्वादन करते हुए अर्जुन कहने लगे–जिस प्रकार प्रिया का अपराध प्रिय क्षमा कर देता है उसी प्रकार तुम भी मेरे सारे अपराध सहन करो अर्थात् क्षमा करो। आत्मा सबके सबसे प्रिय है, अतः जब जीव भगवान को अपनी आत्मा के रूप से देखते हैं तब वे भी भगवान् के प्रिय होने के कारण (गीता ७।१७) सर्व अपराधों (पापों) से मुक्त होते हैं एवं प्रिया जैसे प्रिय से आलिंगित होती है उसी प्रकार भक्त भी भगवान् के साथ एक हो जाता है।

[इस प्रकार अपराध की क्षमा के लिए प्रार्थना कर फिर विश्वरूप का उपसंहार और पूर्वरूप का दर्शन कराने के लिए अर्जुन अब दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं—]

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अन्वय—अदृष्टपूर्वं (रूपं) दृष्ट्वा हृषितः अस्मि भयेन च मे मनः प्रव्यथितं, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसीद, हे देव ! तत् एव रूपं मे दर्शय ।

अनुवाद—जिसका मैंने पहले दर्शन नहीं किया ऐसे तुम्हारे इस विश्वरूप को देखकर मुझे हर्ष हो रहा है तथा भय से भी मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है । हे देव ! (स्वयंप्रकाश आत्मा) तुम मुझे अपना वह रूप दिखलाओ जो पहले था । हे देवाधिदेव ! हे जगन्निवास ! मुझ पर प्रसन्न होओ ।

भाष्यदीपिका—अदृष्टपूर्वं (रूपं) दृष्ट्वा हृषितः अस्मि—तुम्हारा यह विश्वरूप अदृष्टपूर्व है अर्थात् मैंने या अन्य किसी ने पहले कभी ऐसा नहीं देखा । अतः न देखे हुए इस प्रकार के रूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ । **भयेन च मनः प्रव्यथितम्**—किन्तु साथ ही ऐसे विकट रूप के दर्शन से जो भय उत्पन्न हुआ है उससे मेरा मन प्रकृष्ट रूप से (अत्यन्त) व्यथित (व्याकुल) भी हो रहा है । **हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसीद**—हे देवों के भी ईश्वर अर्थात् नियन्ता परमेश्वर ! हे सर्व जगत् के आश्रय ! मुझपर प्रसन्न हो अर्थात् मेरे प्रति अनुग्रह करो । प्रश्न होगा-क्या करने से मेरी प्रसन्नता की उपलब्धि तुम कर सकोगे ? इस पर अर्जुन कहते हैं **हे देव ! तद् एव रूपं मे दर्शय**—हे देव अर्थात् स्वयंप्रकाश या सर्व प्रकाशक परमात्मन् ! तुम्हारे लिए सबकुछ ही प्रकाश करना सम्भव है । [अतः जो मेरे प्राणों की अपेक्षा भी प्रिय है वह प्राचीन रूप जो मेरा मित्र (सखा) का रूप है वह ही मुझे दिखाओ ।] कहने का अभिप्राय यह है कि इस भयंकर विश्वरूप को संवरण कर तुम अपना प्राचीन सौम्यरूप जिसको मैंने सखा रूप से जाना था वह मुझे दिखलाकर अनुग्रहित करो । श्लोक में हे देवेश ! हे जगन्निवास ! हे देव ! इस प्रकार सम्बोधन करके अर्जुन अपने मन की अत्यन्त व्याकुलता ही प्रकाश कर रहे हैं ।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[इस प्रकार क्षमा कराने के बाद **'अदृष्टपूर्वम्'**

इत्यादि दो श्लोकों से अर्जुन प्रार्थना करते हैं।] **अदृष्टपूर्वं हृषितः अस्मि इत्यादि**–हे देव ! पहले न देखे हुए आपके विश्वरूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ तथा साथ ही इस रूप को (भयंकर भाव को) देखकर भय के कारण मेरा मन अत्यन्त व्यथित (विचलित) भी हो रहा है। ['च' शब्द 'भी' अर्थ में हुआ है। **तदेव मे दर्शय इत्यादि**–अतः मेरी व्यथा को निवृत्त करने के लिए तुम उसी रूप को मुझे दिखाओ (जिसको मैं सखारूप से जानता हूँ) 'हे देवेश ! हे जगन्निवास !' तुम मेरे पर प्रसन्न होओ (मेरे प्रति प्रसन्न होकर तुम्हारा पूर्व सौम्यरूप दिखलाओ।)

(२) **शंकरानन्द—देवेश, जगन्निवास इत्यादि**—सम्बोधन से अर्जुन भगवान् को प्रसन्न करते हुए तथा स्तुति करते हुए विश्वरूप के उपसंहार के लिए प्रार्थना करते हैं। **'अदृष्टपूर्वम्'**—कभी भी न देखे गए **दृष्ट्वा हृषितः अस्मि**–विश्वरूप को देखकर यद्यपि मैं हृष्ट (सन्तुष्ट) हुआ हूँ तथापि **भयेन मे मनः व्यथितं च भवति**—अनेक मुख उदर आदि से वह विश्वरूप विकृत (विकराल) होने के कारण भय से मेरा मन व्यथित और व्याकुल भी हो रहा है। **हे देव ! प्रसीद**–हे देव (स्वयंप्रकाश परमात्मन्) मेरे पर प्रसन्न हो। **तदेव मे रूपं दर्शय**—उसी प्राक्तन अर्थात् पहले जो था उस सौम्य कृष्ण के रूप को मुझे दिखाओ अर्थात् मेरी दृष्टि का विषय करो।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् का यथार्थ स्वरूप सर्व प्रपञ्च से रहित अर्थात् मायातीत (गुणातीत) होने के कारण नित्य ही स्थिर शान्त तथा सौम्य है। जैसे समुद्र की अन्तर्निहित जलराशि सदा ही शान्त है किन्तु ऊपरी भाग में वायु के संयोग से वही शान्त जल उत्ताल तरंग में प्रकट होता है, उसी प्रकार भगवान् शान्त, सुन्दर, आनन्द रूप होते हुए भी माया को आश्रय कर कभी-कभी भयंकर रूप को ग्रहण करते हैं। जिस भक्त ने भगवान् का यह भयंकर अलौकिक विश्वरूप कभी पहले नहीं देखा है, वह इसको भगवान् की असीम कृपा समझ कर स्वतः ही पहले हर्षित होगा क्योंकि कुछ भी चमत्कार देखने से हर्ष होना स्वाभाविक है किन्तु साथ-साथ जब उस विकराल कालरूपी मूर्ति में प्रिय तथा अन्य जनों के नाश के लिए प्रवेश करते हुए देखता है

तब भयभीत होता है यह भी स्वाभाविक ही है। अर्जुन का भी ऐसा ही हुआ था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सृष्टि के साथ ही प्रलय की लीला भी शुरू हो जाती है किन्तु सब प्राणी शान्ति के ही पिपासु होने के कारण भगवान् की शान्तमूर्ति देखना चाहते हैं कालरूपी संहारमूर्ति में भय मानते हैं, यद्यपि सृष्टि स्थिति-प्रलय तीनों लीला में ही वे परमेश्वर एकरूप में सदा स्थित रहते हैं इसलिए भक्तलोग उनको (भगवान को) 'अच्युत' कहते हैं। अर्जुन युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में अत्यन्त चिन्तित थे एवं युद्ध में आत्मीय स्वजन बन्धु-बान्धव की मृत्यु की सम्भावना देखकर युद्ध से निवृत्त होने के लिए भी उद्यत हुए थे। वे सोचते थे कि यदि वे युद्ध न करे तब भीष्म, द्रोण तथा अन्यान्य आत्मीय स्वजनों की मृत्यु नहीं होगी। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए भगवान्ने कालरूप (संहारमूर्ति) धारणकर यह दिखला दिया कि अर्जुन के युद्ध के बिना ही दोनों पक्षीय वीर पहले ही मर चुके हैं। अर्जुन के कर्तृत्व अभिमान का नाश करने के लिए इसकी आवश्यकता थी परन्तु जब अर्जुनने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि भगवान् के विश्वनाटक में प्रत्येक जीव का निमित्त बनकर केवल निर्दिष्ट अभिनय करने में ही अधिकार है, नाटक को बदलने में अन्यथा करने में उनका कर्तृत्व नहीं है, तब उसने सर्व प्रकार से कर्तृत्व-अभिमान से मुक्त होकर भगवान् में जब अपने को निछावर कर दिया तब उस प्रलयमूर्ति की और कोई आवश्यकता न रहने के कारण अर्जुन भगवान् की उस भयंकर विश्वमूर्ति को त्यागकर जो सौम्य (शान्त) प्रेममयमूर्ति को अर्जुन सखारूप से जानते थे उसको दिखलाकर अर्जुन के प्रति प्रसन्न होने के लिए अब प्रार्थना कर रहे हैं। अर्जुन ने देव, देवेश तथा जगन्निवास इन तीन शब्दों से एक साथ भगवान्को सम्बोधन किया। इससे उनके मन की अतिशय व्याकुलता ही सूचित हो रही है। अर्जुन के मन की भावना इस प्रकार है। हे देव (स्वयंप्रकाश परमात्मन्) ! तुम्हारे लिए विश्वरूप का संवरणकर सौम्य (शान्त) मूर्ति को (जो तुम्हारी पहले थी उसे) प्रकाश करना (दिखाना) क्या भारी बात है ? तुम अपनी कल्पना शक्ति से (माया से) सौम्य भयंकर सभी मूर्ति ग्रहण करते हो एवं स्वयं ही उसको प्रकाश भी करते हो। यह जो भयंकर मूर्ति तुमने मुझको दिखाया वह जैसी कल्पित तथा मिथ्या है उसीप्रकार दूसरी जो कोई मूर्ति तुम मुझको दिखाओगे वह भी

ऐसी ही होगी अर्थात् ऐसी ही कल्पित तथा मिथ्या होगी। इसलिए कोई भी मूर्ति का संवरण करने से अथवा कोई भी मूर्ति को प्रकाश करने से तुम्हारी हानि या वृद्धि नहीं होती है तथापि तुम्हारी इच्छानुसार किसी भी रूप में तुम प्रकट हो सकते हो एवं इसके लिए तुम्हें किसी की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि तुम देव हो अर्थात् सर्वप्रकाशक हो। यदि भगवान् कहें कि रूप का (किसी मूर्ति का) संवरण करना (लय करना) शंकर का कार्य है एवं मूर्ति की सृष्टि करना ब्रह्मा का कार्य है अर्थात् भिन्न-भिन्न देवता लोग ही जगत् के भिन्न-भिन्न कार्यों का सम्पादन कर रहे हैं, तो इस पर अर्जुन कहते हैं कि तुम देवेश हो अर्थात् देवताओं के भी ईश्वर हो अर्थात् देवताओं की भी किसी कार्य में स्वतन्त्रता नहीं है। तुम जैसी प्रेरणा देते हो उसी प्रकार वे भी कठपुतली के समान तुम्हारा कार्य पूर्ण करने के लिए बाध्य होते हैं। अतः मेरी प्रार्थना पूर्ण करने के लिए तुम्हें किसी देवता की अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी। यदि भगवान् कहे कि जगत् तो मायारचित है और मैं माया से अतीत हूँ शान्त या भयंकर मूर्ति भी माया का ही कार्य है। अतः पूर्वरूप देखने के लिए मुझे क्यों प्रार्थना कर रहे हो ? इसके उत्तर में अर्जुन कहते हैं तुम 'जगन्निवास' हो अर्थात् जिसप्रकार चलचित्र का आधार (शुभ्र वस्त्र खण्ड) के आश्रय विना नहीं प्रतीत हो सकता है, उसी प्रकार तुम सारे जगत् के आश्रय हो क्योंकि कल्पित वस्तु कोई सत्यवस्तु का आश्रय न कर प्रतीत नहीं हो सकती है। इसलिए जगत् मिथ्या होते हुए भी जबतक प्रतीत हो रहा है तबतक तुमसे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः जो रूप मैं देखना चाहता हूँ वह वस्तुतः तुम ही हो इसलिए सर्वप्रकार से तुम मेरी प्रार्थना पूर्ण करने में समर्थ हो अतः मेरी प्रार्थना पूर्णकर मुझपर प्रसन्न होओ।

[भगवान् का जो रूप अर्जुन ने देखना चाहा उसका अब स्पष्टीकरण करते हैं-]

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

अन्वय—अहं त्वां तथा एव किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् च द्रष्टुम् इच्छामि। हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! त्वं तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण भव।

अनुवाद—मैं तुम्हें उसीप्रकार मुकुटधारी गदाधारण किए और हाथों में चक्र लिए देखना चाहता हूँ। हे सहस्रभुजाओं वाले! हे विश्वरूप! तुम अपने उस चतुर्भुजरूप से ही (मेरे सामने) स्थित हो जाओ।

भाष्यदीपिका—अहं त्वां तथैव—मैं तुमको उसीप्रकार अर्थात् पहले के समान अर्थात् पहले जो रूप था उसी रूप में **किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् च**—सिर पर मुकुट धारण किए, हाथों में गदा और चक्र लिए हुए **द्रष्टुम् इच्छामि**—देखना चाहता हूँ। **हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते!**—हे सहस्रभुजाओं वाले! हे विश्वमूर्ते [भगवान् विश्वरूप धारण कर सहस्रबाहु विशिष्ट होकर अर्जुन की दृष्टि में प्रकट हुए थे। अर्जुन अभी भी उसी रूप का दर्शन कर रहे हैं इसलिए उन्होंने भगवान् को उसी प्रकार सम्बोधन किया है।] **त्वं तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण भव**—जब कि यह बात है तो तुम उसी अपने वसुदेव पुत्र चतुर्भुज विशिष्टरूप से युक्त होओ अर्थात् इस विश्वरूप का उपसंहार करके तुम वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण के रूप से स्थित होओ (प्रकट होओ)। [इससे यह बात स्पष्ट हुई है कि अर्जुन को सर्वदा भगवान् का चतुर्भुजादि रूप ही दिखाई देता था (मधुसूदन)। महाभारत में महाप्रायाणिक पर्व में अर्जुन ने द्वारिका से लौट कर यदुवंश का निधन तथा श्रीकृष्ण के देहत्याग का जो विवरण दिया था उससे भी यह स्पष्टरूप से प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण अर्जुन के सामने सदा ही चतुर्भुज विशिष्टरूप से प्रकट रहते थे]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[जो रूप अर्जुन ने देखना चाहा उसी रूप का विशेषणों सहित वर्णन करते हैं—] **किरीटिनं गदिनम् इत्यादि**—पहले तुमको मैंने जैसा देखा था उसीप्रकार ही मुकुट धारण किए हुए एवं हाथों में गदा तथा चक्र लिए हुए तुम्हारे चतुर्भुजरूप को मैं देखना चाहता हूँ। इसलिए हे सहस्रभुजाओं वाले! हे विश्वमूर्ते! इस विश्वरूप का उपसंहार करके उसी मुकुट आदि से युक्त चतुर्भुजरूप से मेरे सामने प्रकट हो जाओ। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण को अर्जुन पहले भी मुकुट आदि से युक्त देखते थे। अर्जुन ने पहले विश्वरूप के दर्शन के समय यह कहा था कि तुमको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त देखता हूँ (गीता ११।१७)। वह तो बहुत से मुकुट आदि के अभिप्राय से कहा था अथवा अबतक तुमको मैं जैसे

मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त अत्यन्त प्रसन्नरूप से देख रहा था उसीरूप को अब तेज के समुदायरूप से (जो अति कष्ट से देखने योग्य है उसको) देख रहा हूँ–इसप्रकार विश्वरूप दर्शन करने के समय बहुवचन व्यक्त किया गया है, इसलिए विरोध नहीं है।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्ववर्ती श्लोक में **'तदेव'**—(उसी को) ऐसा कहने पर भी निर्धारण न होने के कारण जिस रूप को अर्जुन ने देखना चाहा उसको विशेषणों से स्पष्ट करते हैं। **तथैव किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं त्वां द्रष्टुम् इच्छामि**—जैसे तुम पहले थे मैं ऐसा ही किरीट (मुकुट) पहने हुए, गदाधारी तथा चक्र हाथ में लिए हुए तुमको अब देखना चाहता हूँ, क्योंकि यह विश्वरूप भयानक है इसलिए **चतुर्भुजेन तेनैव रूपेण भव**—चतुर्भुज (चार भुजाओं वाले) उसी शान्त स्वरूप वासुदेवरूप से युक्त होओ। उस समय अर्जुन चतुर्भुजरूप को नहीं देख रहे थे, इसको सूचित करने के लिए कहते हैं–**सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! एतद्रूपं दर्शय**–हजारों भुजायें जिसकी हैं वह सहस्रबाहु है, विश्व जिसकी मूर्ति है वह विश्वमूर्ति (सर्वात्मा) है। हे सहस्रबाहो (सहस्रभुजाओं वाले) हे विश्वमूर्ते (सर्व आत्मन्) इस रूप का उपसंहार करके पूर्व का शान्तरूप दिखलाओ।

(३) **नारायणी टीका**—विश्वनाटक में भगवान् तीन प्रकार के रूप ग्रहण करते हैं—

(१) **लौकिक रूप**–पशु, पक्षी, कीट, पतंग, गन्धर्व, मनुष्य इत्यादि रूप में एकमात्र भगवान् ही विराजित हैं, यह पहले भी बारंबार कह चुका हूँ। इसलिए हमलोग चर्मचक्षु से जो सब रूप देखते हैं वे सभी भगवान् के ही हैं परन्तु वे रूप पञ्चभूत से (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी से) सृष्ट हैं अतः वे चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वचा–इन पञ्च इन्द्रियों से ग्राह्य विषय होते हैं। मायिक आवरण ग्रहण कर इन सब स्थूलरूप में भगवान् प्रकट होने पर भी माया का आवरण हटा कर उनका यथार्थ रूप देखना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है। ये सब रूप अनित्य हैं, विनाशी हैं एवं सीमित (परिच्छिन्न) हैं।

(२) **अलौकिक रूप**—भक्त भगवान् के ऐश्वर्य, शक्ति, भक्तवत्सलता एवं अन्यान्य महिमा से सम्पन्न भगवान् की कोई इष्ट मूर्ति ध्यानके अवलम्बनरूप से ग्रहण कर

चित्त को स्थिर करके भगवान् का यथार्थ स्वरूप देखने का प्रयत्न करते हैं। ये भक्त भगवान् का निरन्तर चिन्तन करते करते तदाकारा वृत्ति सम्पन्न होकर उसी मूर्ति को अपने समक्ष देखते हैं। यह मूर्ति पहले काल्पनिक होने पर भी अभ्यास के प्रभाव से वह एक अलौकिक (दिव्य) रूप में परिणत होती है। यह मूर्ति पाञ्चभौतिक नहीं है। अतः भक्त भगवान् की इस दिव्यमूर्ति को देखकर कृतार्थ होते हैं। जीव जब भगवान् की आराधना करके अर्जुन (शुद्धबुद्धि) हो जाते हैं तब चलते-फिरते, खाते-सोते अर्जुन समान शंख-चक्र-गदापद्मधारी श्रीकृष्ण की चतुर्भुजमूर्ति ही देखते हैं। इस रूप को चर्मचक्षु से नहीं देखा जा सकता है। इसको देखने के लिए साधन से उत्पन्न हुए एक अलौकिक (दिव्य) दृष्टि की आवश्यकता होती है। श्रीकृष्ण जब कंस-कारागार में (द्वैतबुद्धि के संसार बन्धन में) वसुदेव [जो देव को (स्वयंप्रकाश आत्मा को) ही वसु अर्थात् जीवन के परम धन रूप से ग्रहण करता है उनके] एवं देवकी के [देव को (स्वयंप्रकाश आत्मा को) प्रकाश करने योग्य चित्त के समान जब भगवान् वसुदेव उनके अलौकिक शंख चक्र-पद्मगदाधारी रूप ग्रहण कर प्रकट हुए थे] तब देवकी स्तुति करने लगीं।

रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः।
जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः॥
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शंखचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥' (भागवत १०।३।२८-३०)

अर्थात् आपका यह चतुर्भुज दिव्यरूप ध्यान की वस्तु है। इसे केवल मांस-मज्जामय शरीर पर ही दृष्टि रखने वाले देहाभिमानी पुरुषों के सामने प्रकट मत कीजिए। (मधुसूदन) इस पापी कंस को यह बात मालूम न हो कि आपका जन्म मेरे गर्भ से हुआ है। मेरा धैर्य टूट रहा है। आपके लिए मैं कंस से बहुत डर रही हूँ। विश्वात्मन्! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शंख, चक्र, गदा और कमल की शोभा से युक्त अपना यह चतुर्भुजरूप छिपा लीजिये।

भगवान् ने भी इसप्रकार की चतुर्भुजमूर्ति में प्रकट होने का तात्पर्य ऐसा कहा–

एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिंगेन जायते॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम्॥ (भागवत १०।३।४४-४५)

अर्थात् मैंने तुम्हें अपना यह रूप इसलिए दिखला दिया है कि तुम्हें मेरे पूर्व अवतारों का स्मरण हो जाय। यदि मैं ऐसा नहीं करता, तो केवल मनुष्य-शरीर से मेरे अवतार की पहचान नहीं हो पाती। तुम दोनों मेरे प्रति पुत्रभाव तथा निरन्तर ब्रह्मभाव रखना इसप्रकार वात्सल्य–स्नेह और चिन्तन के द्वारा तुम्हें मेरे परम पद की प्राप्ति होगी।

फिर—

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तुष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥ (भागवत १०।३।४६)

अर्थात् भगवान् इतना कहकर चुप हो गए। अब उन्होंने अपनी योगमाया से पिता-माता के देखते-देखते तुरंत एक साधारण शिशु का रूप धारण कर लिया।

भागवत से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् की चतुर्भुजमूर्ति ध्यान की वस्तु है किन्तु उनका लौकिक मनुष्यरूप दो हाथों से ही युक्त है।

(३) **भगवान् का विश्वरूप**—इसरूप में हजारों-हजारों, मुख बाहु तथा अन्यान्य अंगविशिष्ट होते हैं। भगवान् की कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त होकर ही भक्त इस रूप को देखने में समर्थ होते हैं। यह भी अलौकिक तथा दिव्यरूप ही है किन्तु भयंकर रूप है। अर्जुन ने इस रूप का उपसंहार कर चतुर्भुजमूर्ति को [जो रूप अर्जुन की ध्यान-मूर्ति (इष्टमूर्ति) थी उसको] दिखाने के लिए प्रार्थना की। भगवान् के चारो हाथ में जो शंख-चक्र-गदा-पद्म है उनके रहस्य का वर्णन भागवत इस प्रकार करता है।

धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते॥
ओजस्सहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्।
अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्॥ (भागवत १२।११।१३-१४)

अर्थात् धर्म ज्ञानादियुक्त सत्त्वगुण ही उनके नाभिकमल के रूप में वर्णित हुआ है। वे मन, इन्द्रिय और शरीर सम्बन्धी शक्तियों से युक्त प्राणतत्त्वरूप कौमुदी की गदा, जलतत्त्वरूप पाञ्चजन्य शंख और तेजस्तत्त्वरूप सुदर्शन-चक्र को धारण करते हैं।

(४) भगवान् की विश्वातीत अर्थात् निर्गुण, निष्क्रिय शुद्धचैतन्यस्वरूप अद्वैत सत्ता। यह ही भगवान् का यथार्थस्वरूप है। इसके अतिरिक्त जो तीनों रूप का वर्णन किया गया है वे सभी मायिक हैं अर्थात् माया से युक्त हैं। सर्वरूप में भगवान् को स्वीकार कर जब उनकी आराधना निरंतर भक्त करते हैं तब चतुर्भुज वासुदेवमूर्ति का सर्वत्र दर्शन होता है। इसके पश्चात् दिव्यज्ञानदृष्टि से विश्वरूप का भी दर्शन कर सकते हैं। भगवान् की इसप्रकार अद्भुत महिमायुक्त मूर्ति देखकर भक्त का हृदय श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से आप्लुत हो जाता है एवं भगवान् ही एकमात्र सत्य वस्तु हैं यह जानकर भक्त भगवान् की सत्ता में डूब जाता है। इसके फलरूप से भगवान् की विश्वातीत सत्ता का निर्विकल्प समाधि से साक्षात्कार कर परमानंद में निमग्न होता है। यह ही साधन राज्य के मुक्तिमार्ग में चार क्रम हैं। जब सविकल्प समाधि की प्रगाढ़ अवस्था में विश्वरूप अर्थात् वासुदेव ही सब हैं इसप्रकार का बोध उत्पन्न होता है किन्तु जब उस समाधि से व्युत्थान होने लगता है तब भक्त की उस रूप को सहन करने की सामर्थ्य नहीं रहती है। अतः जो सौम्य चतुर्भुजमूर्ति उनके ध्यान का विषय थी उसको देखने के लिए अत्यन्त आग्रह उत्पन्न होता है यह ही अर्जुन की चतुर्भुजमूर्ति को देखने की प्रार्थना का तात्पर्य है।

[अर्जुन को भयभीत देखकर विश्वरूप का उपसंहार करके प्रिय वचनों से आश्वासन (धैर्य) देते हुए श्रीभगवान् बोले—]

श्रीभगवान् उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच—हे अर्जुन! प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् मे इदं परं रूपं तव दर्शितम्, यत् तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं (रूपं) त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा-हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर अपनी असाधारण सामर्थ्य से अर्थात् अपने ऐश्वर्य के (योगमाया के) प्रभाव से अपना यह श्रेष्ठ तेजोमय विश्वात्मक अनंत और सबसे प्राचीन (आद्य) रूप दिखाया है। मेरे इस प्रकार के रूप को तुम्हारे विना और किसी ने पहले नहीं देखा।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवानुवाच - हे अर्जुन !—श्रीभगवान् ने कहा-हे शुद्धबुद्धि अर्जुन ! शुद्धान्तःकरण न होने से कोई भी भगवान् के इस प्रकार के विश्वरूप दर्शन का या भगवान् के अनुग्रहपूर्ण वचन सुनने का अधिकारी नहीं होता है, यह सूचित करने के लिये भगवान् ने यहाँ 'अर्जुन' कहकर सम्बोधन किया। **प्रसन्नेन मया**—मैंने प्रसन्न होकर (तुम्हारे प्रति अत्यन्त कृपायुक्त होकर)। अनुग्रह-बुद्धि का नाम प्रसाद है। केवल भगवान के प्रसाद से ही (अनुग्रह से ही) इस प्रकार के विश्वरूप का दर्शन सम्भव होता है, अपनी चेष्टा से नहीं। यह स्पष्ट करने के लिए भगवान् कह रहे हैं **प्रसन्नेन मया आत्मयोगात्**—आत्मा के (अपने) योग से (असाधारण ऐश्वर्य की सामर्थ्य से) अर्थात् मेरी योगमाया के प्रभाव से **मे इदं परं रूपं तव दर्शितम्**—मेरा यह विश्वात्मक पर (श्रेष्ठ) रूप तुमको दिखाया। क्यों यह पर अथवा श्रेष्ठ है यह स्पष्ट करते हैं। **यत् तेजोमयं विश्वम् अनन्तम् आद्यं च रूपं**—जो तेजसम्पन्न (मयट् प्रत्यय का यहाँ प्रचुर अर्थ में प्रयोग हुआ है), विश्व (समस्त) अर्थात् सर्वात्मक, अनंत (अन्तरहित अर्थात् असीम) आद्य [अर्थात् सृष्टि के सबसे पहले होनेवाला अनादि अर्थात् सर्वकारणस्वरूप] मेरा रूप जिसको तुम्हें मैंने दिखाया वह **त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्**—वह तुम्हारे सिवा पहले और किसी से भी नहीं देखा गया है अर्थात् तुम्हारे विना अन्य कोई अभी तक इस विश्वरूप का दर्शन करने में समर्थ नहीं हुआ [क्योंकि इस प्रकार उपलब्धि करने का एक मात्र उपाय है भगवत्कृपा अर्थात् ईश्वरप्रसाद-(आनंदगिरि)।] श्रीधर स्वामी ने 'त्वदन्येन' इत्यादि वाक्य का इस प्रकार अर्थ किया-तुम्हारे समान भक्त के विना अन्य कोई पहले इस रूप को दर्शन नहीं कर सका।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—[इस प्रकार की प्रार्थना के पश्चात् **मया इत्यादि**-तीन श्लोकों से भगवान् अर्जुन को आश्वासन देते हुए-] श्रीभगवान बोले—**मया**

प्रसन्नेन इत्यादि—हे अर्जुन ! तुम भय से क्यों भयभीत हो रहे हो क्योंकि प्रसन्न होकर मैंने कृपापूर्वक यह परम उत्तमरूप अपने आत्मयोग से अर्थात् योगमाया की शक्ति से तुमको दिखाया। उस रूप का परमत्व अत्र बताते हैं। यह रूप तेजोमय, विश्वात्मक, अनंत और आदि होने के कारण सबका कारण स्वरूप है। इस मेरे रूप को तुम्हारे विना अर्थात् तुम जैसे भक्त हो उस प्रकार के भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा पहले नहीं देखा गया है।

(२) **शंकरानन्द**—[**स्थाने हृषीकेश इत्यादि**—(गीता ११।३६) से स्तुतिकर्ता, विश्वरूप के दर्शन से हर्षित तथा उसके भय से क्लिष्ट (क्लेशप्राप्त) अर्जुन को आश्वासन देने के लिए विश्वरूप का दर्शन अतिदुर्लभ है एवं वह भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है यह स्पष्ट करने के लिए श्रीभगवान् बोले-] **हे अर्जुन ! प्रसन्नेन मया तेजोमयं विश्वम् अनंतम् रूपम् आत्मयोगात् दर्शितम्**—हे अर्जुन ! तुम्हारी भक्ति की अतिशयता से मैंने प्रसन्न होकर तुमपर अनुग्रह करने के लिए इस तेजोमय (कोटी सूर्य के समान प्रकाश वाले), विश्व (विश्वात्मक) तथा अनंत (असीम अन्तरहित) दृश्यमानरूप को (जिसे तुम अब देख रहे हो उसको) आत्मयोग से आत्मा के अर्थात् अपने योग से (योगमाया की सामर्थ्य से) भक्तश्रेष्ठ तुमको दिखलाया है। जो दूसरे के लिए केवल श्रवण का ही विषय है वह तुम्हारी ही दृष्टि का विषय हुआ है। धृतराष्ट्र के घर में भीष्म आदि को, बाल्यकाल में यशोदा को एवं अक्रूर को भी तो तुमने अपना यह रूप (विश्वरूप) दिखाया ही था फिर तुमने प्रसन्न होकर यह मुझे दिखलाया है—यह कैसे ? इस पर कहते हैं कि वह अवान्तररूप था—उत्तम नहीं था। और जो रूप तुम्हें अब दिखा रहा हूँ वह तो सबसे उत्तम है एवं **त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्**—तुमसे अतिरिक्त और किसी ने अब तक उसे देखा नहीं है। **यत् मे आद्यं तदेव दर्शितम्**—मेरा (परमेश्वर का) यह रूप जो तुमको मैंने दिखलाया वह आद्य है अर्थात् सबका आदि है, अतः मेरे ईश्वरत्व के कारण वह सर्वोत्तम है। तुम भाग्य से ही इस प्रकार के दर्शन को प्राप्त हुए हो अर्थात् मेरे इस रूप के दर्शन से तुम कृतार्थ हुए हो।

(३) **नारायणी टीका**—अर्जुन युद्ध-क्षेत्र में युद्ध के लिए उद्योग करते हुए युद्ध का भावी परिणाम सोचकर अतिशय विषादग्रस्त हुए थे। इसलिए भगवान् ने

विश्वरूप में उस युद्ध का ही परिणाम दिखाकर अर्जुन के कर्तृत्व अभिमान का नाशकर अर्जुन को नाटक के केवल अभिनेता रूप से युद्ध करने में प्रवृत्त किया था। भगवान् जब भक्तों की भक्ति की अतिशयता देखकर प्रसन्न होते हैं तभी वे भक्तों की श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम को बढ़ाने के लिए अपना विश्वरूप दिखाते हैं। धृतराष्ट्र के गृह में भीष्मादि को भी भगवान् ने विश्वरूप दिखाया। व्रजधाम में शिशु-अवस्था में भी यशोदा की गोद में स्तनपान करते हुए एकबार भगवान् ने विश्वरूप दिखलाया एवं मृत्तिकाभक्षण करने के लिये यशोदा जब उनको ताड़ित करने के लिए उद्यत हुई तब भी 'नाहं मृत्भक्षितवान्'—"मैया ! मैंने मिट्टी नहीं खायी"। यह कहकर मुख खोलकर विश्वरूप दिखलाया। किन्तु जो कालरूपी विश्वमूर्ति को अर्जुन ने देखा वह अन्य सब विश्व-रूप से अनूठी (अपूर्व) ही थी। भक्तों के पृथक् पृथक् भावों के अनुसार भगवान् का विश्वरूप प्रदर्शन भी पृथक्-पृथक् ही होता है। इसलिए भगवान् स्वयं भी कहे हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता—४।११) अर्जुन का प्रयोजन था युद्ध का परिणाम जानना अतः संहारमूर्ति ग्रहणकर उसको भगवान ने दिखलाया कि स्वपक्षीय तथा विपक्षीय प्रायशः सभी वीर पहले ही मर चुके हैं एवं अर्जुन केवल निमित्त बनकर पहले ही भगवान् द्वारा निर्धारित यश और राज्यलाभ करने के लिए युद्ध करने का अभिनय कर रहे हैं। अर्जुन के विना दूसरे किसी भगवद्-भक्त को भी इस प्रकार की भयंकर मूर्ति देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था क्योंकि इस प्रकार की जटिल समस्या तथा द्वन्द्व बहुत कम भक्तों के हृदय में ही उपस्थित होते हैं। इसलिए भगवान् ने कहा कि **न तत् अन्येन दृष्टपूर्वम्**'—(अर्थात् मेरे अन्य अन्य प्रकार के विश्वरूप को मेरे विशेष-विशेष भक्तों ने पहले देखा है परन्तु जो भयंकर कालरूपी विश्वमूर्ति तुमको मैंने दिखलाया उसको तुम्हारे विना दूसरे किसीने पहले कभी नहीं देखा।) जगत् की सृष्टि के साथ-साथ ही संहार शुरू होता है इसलिए यह आद्य है अर्थात् सबकी आदि अवस्था से ही मेरी यह संहार मूर्ति कार्य कर रही है; यह अनंत है कारण जबतक विश्व रहेगा तबतक संहार का भी अन्त (शेष) नहीं होगा। यह विश्व (विश्वात्मक) है क्योंकि विश्व का कोई इससे बच नहीं सकेगा और यह तेजोमय है क्योंकि मैं जब भक्त का बाहर का दृश्य एवं भीतर की सारी वृत्तियाँ समाहार (भक्षण) कर लेता हूँ (गीता ११।३२)

तब मेरे यथार्थ स्वरूप का तेज (प्रकाश) भक्त के हृदय में प्रकाशित होता है। इसलिए यह रूप पररूप है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। यह रूप मायिक है इस विषय पर कोई सन्देह नहीं है परन्तु भक्त जब इस रूप को देखता है मायिक होनेपर भी यह साधारण माया का कार्य नहीं है क्योंकि इस रूप के दर्शन का जिसको सौभाग्य हुआ वह मेरे आत्मयोग से ही दिखाई देता है। 'आत्मयोगात्' शब्द का अर्थ है-आत्मा के अर्थात् मेरा अपना स्वरूपभूत सामर्थ्य जिसको योगमाया कहते हैं उससे अर्थात् जिसका दर्शन करने से जो माया जीव को बहिर्मुख करके विषयासक्त करती हैं एवं जन्ममरण के चक्र में ढाल देती हैं उसे **महामाया**—कहते हैं और जो माया जीव को सब वस्तु में भगवान् का ही ऐश्वर्य दिखाकर जीव को भगवान् के (आत्मा के) साथ युक्त अर्थात् एक कर देती है उसे **योगमाया**—या **आत्मयोग**—कहते हैं। अतः आत्मयोग से (योगमाया से) प्रदर्शित भगवान का विश्वरूप मोह में नहीं ढालता है परन्तु भक्त को भगवान के साथ मिला देते हैं। इसलिए भी इस रूप को भगवान् ने परमरूप अर्थात् सर्वश्रेष्ठ (सर्वोत्कृष्ट) रूप कहा है।

[मेरी कृपा से तुम मेरे विश्वरूप का दर्शन कर अवश्य ही कृतार्थ हुए हो यह कहकर भगवान् अब विश्वरूप के दर्शन की प्रशंसा कर रहे हैं—]

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

अन्वय—हे कुरुप्रवीर ! न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः न च क्रियाभिः न च उग्रैः तपोभिः एवंरूपः अहं त्वदन्येन नृलोके द्रष्टुम् शक्यः।

अनुवाद—हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! वेद और यज्ञों के अध्ययन, दान क्रिया और भीषण (उग्र) तपस्या इनमें से किसी साधन के द्वारा मैं मनुष्य लोक में तुम्हारे सिवा किसी अन्य पुरुष को ऐसे रूप का दर्शन नहीं दे सकता।

भाष्यदीपिका—हे **कुरुप्रवीर**—हे कुरुकुल श्रेष्ठ अर्जुन ! **न वेदयज्ञाध्ययनैः**—न तो विधिपूर्वक चारों वेदों के और न यज्ञों के अध्ययन से ही (मेरे

दर्शन हो सकते हैं)। वेदाध्ययनैः शब्द का अर्थ है—स्वर के साथ चारों वेदों का गुरुमुख से अक्षरों के उच्चारण करने के अभ्यास से 'यज्ञाध्ययन' शब्द से वेद में यज्ञ के उपयोगी जो सब मंत्र हैं उनको ही केवल अध्ययन करना होगा ऐसा नहीं समझना परन्तु मीमांसा कल्पसूत्र इत्यादि की सहायता से किस प्रकार उन सब मन्त्रों से वैदिक पद्धति के अनुसार विशेष विशेष यज्ञ कर्म का सम्पादन करना होगा उसके विधि निषेध के विचार को यह 'यज्ञाध्ययन' शब्द सूचित कर रहा है अर्थात् वेदों के अध्ययन से ही यज्ञों का अध्ययन सिद्ध हो सकता था तथापि पृथक् रूप से जो यज्ञ के अध्ययन का उल्लेख है वह यज्ञ विशेष विज्ञान के उपलक्षण के लिए है। न यज्ञ के विशेष विज्ञान से और **न दानैः**—न तुला पुरुषादि दोनों से अर्थात् मनुष्य के बराबर तौलकर सुवर्णादि देना रूप अनेक प्रकार के दानों से **न च क्रियाभिः**—और न तो क्रियाओं से अर्थात् अग्निहोत्रादि श्रौतस्मार्तादि कर्मक्रियाओं से **न च उग्रैः तपोभिः**—और न तो चांद्रायण आदि उग्र (शरीर और इन्द्रियों के शोषक होने से दुष्कर) तपों से ही **एवंरूपः अहम् त्वदन्येन नृलोके द्रष्टुं शक्यः**—मैं अपने ऐसे रूप का दर्शन दे सकता हूँ अर्थात् तुम्हारे सिवा मेरे अनुग्रह से रहित किसी अन्य पुरुष को मेरे विश्वरूप का (जो रूप तुम्हें दिखलाया उसका) दर्शन नहीं हो सकता। केवल मेरे प्रसाद या अनुग्रह से ही यह (इस प्रकार विश्वरूप) देखा जाता है अपने कोई वेदाध्ययनादि विशेष कार्य से नहीं, यही कहने का अभिप्राय है।

(१) श्लोक में 'शक्यः + अहम्' इस प्रकार सन्धि करने पर 'शक्योऽहम्' पद निष्पन्न होता है किन्तु यहाँ छन्दों के अनुरोध से प्रथम पद का विसर्ग-लोप कर 'शक्य अहम्' इस प्रकार आर्ष सन्धि किया गया है। (२) 'वेदयज्ञाध्ययनैः इत्यादि प्रत्येक पद के साथ 'न' इस पद का अभ्यास (पुनः पुनः प्रयोग) किया गया है। निषेध की दृढ़ता के लिए ही ऐसा किया गया है अर्थात् अध्ययन, दान, तपस्या इत्यादि मेंसे किसी भी एक का अथवा समुच्चित भाव से सबका एकत्र सम्पादन करने पर भी भगवान् के विश्वरूप का दर्शन करने में कोई समर्थ नहीं होता है, यह दृढ़रूप से स्पष्ट करने के लिए 'न' शब्द की वार-वार आवृत्ति हुई है। (३) श्लोक में **न च क्रियाभिः**—यहाँ 'च' शब्द जिन जिन साधनों का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं है

उनको समुचित रूप से सूचित कर रहा है। कहने का अभिप्राय है कि वेदयज्ञाध्ययन, दान, वेदादिविहितक्रिया तथा उग्र तपस्याओं से जिस प्रकार मेरा विश्वरूप दर्शन करने में कोई समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार अन्यान्य प्रसिद्ध साधन जिनका यहाँ उल्लेख नहीं है उनसे भी **मेरे अनुग्रह के बिना**—कोई मेरे उस अलौकिक रूप का दर्शन नहीं कर सकता है, यही 'च' शब्द का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[विश्वरूप का दर्शन अति दुर्लभ है इसे प्राप्त होकर तुम कृतार्थ हो गए हो यह कहते हैं-] **न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः इत्यादि**-[वेदों के अध्ययन से ही जो जो मन्त्रो से यज्ञादि क्रिया होती है उनका अध्ययन होता है अतः] वेदों के अध्ययन से अतिरिक्त यज्ञ के अध्ययन का अभाव होने के कारण यहाँ 'यज्ञ' शब्द से कल्पसूत्र आदि यज्ञविद्या लक्ष्य कराया गया है। भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! वेद के अध्ययन द्वारा तथा कल्पसूत्र आदि के सहित यज्ञ विद्या के अध्ययन द्वारा तथा नाना प्रकार के दानों के द्वारा एवं चाद्रायण इत्यादि उग्र (घोर) तपों के द्वारा भी इस प्रकार के रूप वाले मुझको मनुष्य लोक में तुम्हारे बिना अन्य कोई देख नहीं सकता किन्तु केवल तुम ही मेरी कृपा से मुझको इस रूप में देखकर कृतार्थ हो रहे हो।

(२) शंकरानन्द—[इस रूप के दर्शन की दुर्लभता का ही प्रतिपादन करते हैं-] **वेदयज्ञाध्ययनैः**—वेद और यज्ञों के अध्ययनों से [यहाँ वेद और यज्ञों के अन्त में अध्ययन शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। नियम से ऋक् आदि चारों वेदों के अध्ययन को वेदाध्ययन कहते हैं और यज्ञों के मंत्र देवता तथा प्रयोग के प्रतिपादक वेदार्थ ज्ञान के अध्ययन (विचार) को यज्ञाध्ययन कहते हैं। यदि शंका हो कि वेदाध्ययन से ही यज्ञाध्ययन होता है अतः फिर यज्ञ के लिए अध्ययन कर्त्तव्य नहीं है तो यह युक्त नहीं है क्योंकि वेदाध्ययन काल में ही बहुतों को वेद के अर्थ के विचार की योग्यता नहीं हो सकती है क्योंकि विचार पद और प्रमाण के अध्ययन से होता है। **'अथातो धर्मजिज्ञासा'**—इससे धर्मजिज्ञासा वेद और वेदांग के अध्ययन के बाद होती है, ऐसा सुना जाता है, इसलिए पहले अक्षर ग्रहण के लिए पीछे अर्थ के ज्ञान के लिए अध्ययन करना कर्तव्य है, ऐसा सिद्ध हुआ। **दानैः**—कन्यादान, गोदान

आदि से **क्रियाभिः**—श्रौत स्मार्त क्रिया आदि से **उग्रतपोभिः**—उग्र (घोर-दुष्कर) तपों से अर्थात् कृच्छ्र चान्द्रायण आदि पुण्य कर्म विशेषों से **एवंरूपः अहम् नृलोके त्वदन्येन द्रष्टुम् न शक्यः**—इस प्रकार के रूप वाले विश्वात्मक मुझ परमेश्वर को नरलोक में (भूलोक में) भक्तश्रेष्ठ तुम्हारे विना दूसरा देखने में समर्थ नहीं है अर्थात् मेरे प्रसाद से (कृपा से) विमुख व्यक्ति को मैं देखने में नहीं आ सकता।

(३) नारायणी टीका—वेदाध्ययन, शिक्षा कल्पसूत्र इत्यादि के साथ वेद-प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों के अर्थ विचाररूप अध्ययन, श्रुति तथा स्मृति शास्त्रों से विहित कर्मानुष्ठान, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि घोर तपस्या ये सभी उत्तम कर्म होने के कारण चित्तशुद्धि तथा आध्यात्मिक उन्नति के सहायक होते हैं परन्तु इन सब कर्मों के अनुष्ठान देह, इन्द्रिय तथा मनबुद्धि में आत्माभिमान के विना अर्थात् अहंकार के विना सम्भव नहीं होता है। अतः वे सब कर्म अज्ञान द्वारा सीमाबद्ध हैं, अतः उनके फल भी सीमित रहते हैं। इस प्रकार सीमित कर्मों से असीम अनंत भगवान् के अलौकिक विश्व रूप का दर्शन किसी प्रकार से सम्भव नहीं होता है। नदियाँ जब तक समुद्र में डूब नहीं जाती हैं तब तक समुद्र का यथार्थरूप नहीं जान सकती हैं, उसी प्रकार जीव भी जब तक अहंकार को त्यागकर अनंत ब्रह्म को आत्मा रूप से स्वीकार नहीं करते हैं तब तक उनके जो रूप कृपा कर अर्जुन को दिखाया उस रूप का दर्शन कभी भी हो नहीं सकता जब भक्त पूर्ण शरणागति से भगवान् का आश्रय कर लेता है एवं उनकी कृपा ही भक्त के जीवन का एकमात्र सहारा होती है तभी अनंत भगवान विश्व मूर्ति के दर्शनसौभाग्य का उदय होता है। अर्जुन इसके लिए पूर्ण अधिकारी थे अतः भगवान् की कृपा भी उनको स्वतः प्राप्त हुई थी। अतः अर्जुन के समान भक्त के विना और कोई इस रूप को दर्शन करने में समर्थ नहीं है, ऐसा कहना युक्त ही है। अनन्य भक्ति के विना भगवान् की कृपा उपलब्ध नहीं होती है और उनकी कृपा के विना इस प्रकार का दर्शन होना सम्भव नहीं हैं।

[इस प्रकार भगवान् अपने विश्वरूप की प्रशंसा करते हुए अब कहते हैं कि मैंने कृपाकर तुमको विश्वरूप दिखाया किन्तु इस रूप के दर्शन से यदि तुम्हारे मन में व्यथा हुई है तब उस रूप का मैं उपसंहार कर रहा हूँ—]

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अन्वय—मम ईदृक् घोरम् रूपम् दृष्ट्वा ते व्यथा मा (अस्तु) विमूढभावः च मा (अस्तु), त्वम् पुनः व्यपेतभीः प्रीतमनाः (सन्) मे इदम् तत् एव रूपम् प्रपश्य ।

अनुवाद—मेरा ऐसा भयानक रूप देखकर तुम्हारी व्यथा और चित्त की व्याकुलता नहीं होनी चाहिए, तुम निर्भय होकर प्रसन्नचित्त से पुनः मेरा वही चतुर्भुज रूप देखो जो पहले तुम देखते थे ।

भाष्यदीपिका—**मम ईदृक् घोरम् रूपम् दृष्ट्वा**—इस मेरे घोर (अर्थात् अनेको भुजादि से युक्त होने के कारण भयंकर) रूप को देखकर **ते व्यथा मा (अस्तु)**—तुमको जो व्यथा (भयजनित पीड़ा) हो रही है वह नहीं होनी चाहिए। **विमूढभावः च मा अस्तु**—तथा मेरा रूप देखने पर भी जो विमूढभाव [अर्थात् चित्त की विशेषरूप से मूढ अवस्था (व्याकुल चित्तता या असंतोष)] हो रहा है वह भी नहीं होना चाहिए **त्वम् पुनः व्यपेतभीः प्रीतमनाः (सन्)** किन्तु भयहीन एवं प्रसन्नचित्त होकर पुनः मेरे वह शंखचक्रगदापद्म धारी चतुर्भुज विशिष्ट वासुदेवरूप को [जिसे तुम इष्ट मानते हो अर्थात् जिसको तुम पहले सर्वदा देखते थे एवं अब भी पुनः देखने के लिए मुझे प्रार्थना कर रहे हो, उस रूप को मैं मेरे विश्वरूप के उपसंहार द्वारा प्रकट कर रहा हूँ, तुम उसको **प्रपश्य**—प्रकृष्ट रूप से (भलीभांति) देखो ! [भयरहित होकर एवं संतोष के साथ देखो-(मधुसूदन)]

[भगवान् जो चतुर्भुज विशिष्टरूप को प्रगट कर रहे हैं वह अब अर्जुन के प्रत्यक्ष रूप से सामने देखने के योग्य है यह सूचित करने के लिए श्लोक में 'इदम्' शब्द का प्रयोग किया गया है—(आनंदगिरि)] ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[ऐसा होने पर भी इस घोररूप को देखकर तुम्हें व्यथा होती है तो वही रूप दिखाता हूँ जो तुम देखना चाहते हो-] **मा ते व्यथा मा च विमूढभावः**—मेरे इसप्रकार के घोररूप को देखकर तुम्हें व्यथा

नहीं होनी चाहिए तथा विमूढभाव अर्थात् विशेषभाव से मूढ़ता भी नहीं होनी चाहिए। भयरहित और प्रीतियुक्त मन से तुम पुनः वही मेरा चतुर्भुजविशिष्ट प्रकृष्ट रूप को (भली प्रकार) देखो।

(२) **शंकरानन्द**—[जिसरूप के दर्शन से तुम्हारे मनमें व्यथा हुई है उस रूप का मैं उपसंहार कर रहा हूँ, तुम्हें व्यथा न हो, ऐसा भगवान् कहते हैं–] **ईदृक् घोरम् रूपम् दृष्ट्वा**—अनेको भुजा, उदर आदि से युक्त इसप्रकार के घोर (भयंकर) रूप को देखकर **ते व्यथा मा (अस्तु)**–तुम्हें व्यथा (परिताप) न हो। **विमूढभावो न (अस्तु)**—तथा विमूढ़भाव (चित्त का व्यामोह) भी न हो **व्यपेतभीः प्रीतमनाः तत् मम इदम् रूपम् प्रपश्य**—किन्तु व्यपेतभी (भयरहित) तथा प्रसन्न मन से युक्त होकर तुम मेरे इस कृष्णरूप को ही देखो। और देखकर प्रसन्न होओ- यही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् कहते हैं–सुवर्ण से निर्मित राक्षस मूर्ति और कोई शान्त महात्मा की मूर्ति में जिसप्रकार एकमात्र सोना ही दोनों के अणु-परमाणु में विद्यमान है उसीप्रकार मैं (सर्वात्मा भगवान्) भी मेरे विश्व के घोर (भयंकर) तथा शान्तमूर्ति में एकही प्रकार विद्यमान रहता हूँ। क्योंकि सब रूप ही माया से रचित होने के कारण रूपों की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वे केवल जादूगर के खेल के समान प्रतीत होते हैं। मेरा विश्वरूप दर्शन कर तुमने अवश्य ही मेरे यथार्थ स्वरूप को जान लिया। अतः असंख्य बाहु–उदर युक्त मेरी इस भयंकर मूर्ति का दर्शन कर तुम्हारे समान ज्ञानी भक्त की व्यथा (मानसिक पीड़ा) होना उचित नहीं है और न तो विमूढ-भाव (अर्थात् मेरे स्वरूप के बारे में मोह) उत्पन्न होना उचित है। मैं स्वरूपतः अरूप हूँ। भक्तों की इच्छानुसार ही मुझको रूप का परिग्रह करना होता है। तुम जब मेरी चतुर्भुज विशिष्ट शान्तमूर्ति देखना चाहते हो तब तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण करने के लिए मैं भी उसी रूप में प्रकट हो रहा हूँ, जो रूप तुम पहले देखते थे। अतः उस रूप को पुनः सर्वप्रकार से भयरहित तथा संतुष्टचित्त होकर भली प्रकार देखो।

[पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा उसके पश्चात् उन्होंने क्या किया ? यह संजय अब धृतराष्ट्र को कह रहा है—]

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अन्वय—संजय उवाच—महात्मा वासुदेवः अर्जुनम् इत्येवं तथा उक्त्वा भूयः स्वकम् रूपम् दर्शयामास, पुनः च सौम्यवपुः भूत्वा भीतम् एनम् आश्वासयामास ।

अनुवाद—संजय ने कहा—अर्जुन से ऐसा कहकर श्रीकृष्णचन्द्र ने उन्हे पुनः अपना रूप दिखाया तथा उन महात्मा ने पुनः सौम्य शरीर धारण कर भयभीत हुए अर्जुन को आश्वासन दिया अर्थात् धीरज धराया ।

भाष्यदीपिका—संजय ने कहा—**महात्मा वासुदेवः**—महान् आत्मा अर्थात् उदारचित्त जिनका है वे वासुदेव [अर्थात् जो परमकारुणिक (अत्यन्त करुणामय) तथा सर्वेश्वर एवं सर्वज्ञादि कल्याणमय गुणों के आकार (खान) हैं उनको महात्मा कहते हैं-(मधुसूदन)] अर्जुन के इष्ट चतुर्भुजविशिष्ट वासुदेव मूर्ति धारण कर अर्जुन को भयरहित तथा प्रसन्न करना भगवान् के लिए उचित ही हुआ क्योंकि भगवान् तो महात्मा हैं—यही संजय के कहने का अभिप्राय है । **अर्जुनम् इत्येवम् तथा उक्त्वा**—अर्जुन को पूर्वोक्त (४१ से ४६ श्लोकों में) उक्त (वचन कहकर) भूयः (पुनः) अर्थात् पूर्व में जैसे था फिर उसीप्रकार **स्वकम् रूपम् दर्शयामास**—कंस के कारागार में वसुदेव-देवकी से जो रूप को ग्रहण कर प्रकट हुए थे अर्थात् किरीट, मकर, कुण्डल, गदा, चक्रादि युक्त चतुर्भुजविशिष्ट एवं श्रीवत्स, कौस्तुभ, बनमाला, पिताम्बर से परिशोभित वह अपना रूप **दर्शयामास**—दिखलाया । **पुनः च सौम्यवपुः भूत्वा**—पुनः वह महात्मा वासुदेव सौम्यवपुः होकर अर्थात् प्रसन्न देह से युक्त होकर [अनुग्रह शरीर धारण कर-(मधुसूदन)] अर्थात् भयंकर विश्वरूप का संवरण कर केवल जो अर्जुन द्वारा प्रार्थित चतुर्भुजविशिष्ट मूर्ति का ही भगवान् ने परिग्रह किया था यह नहीं परन्तु वे प्रसन्न तथा करुणापूर्णमूर्ति धारण कर **भीतं एनम् आश्वासयामास**—भीत इनको अर्थात् विश्वरूप दर्शन से भयभीत अर्जुन को **आश्वासयामास**—आश्वासन दिया (धीरज धराया अर्थात् ढाढस बँधाया) ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[ऐसा कहकर पहले वाला रूप ही भगवान् ने अर्जुन को दिखाया (यह संजय धृतराष्ट्र को कहता है)–] **इत्यर्जुनं वासुदेव इत्यादि**—इसप्रकार भगवान् श्रीवासुदेव ने अर्जुन को कहकर जैसे पहले था वैसे मुकुट आदि युक्त अपना चतुर्भुज रूप फिर दिखाया। तथा इस भयभीत अर्जुन को महात्मा अर्थात् विश्वरूपधारी अथवा कृपालु, श्रीकृष्ण ने प्रसन्न सौम्यरूप ग्रहण कर फिर भी आश्वासन दिया।

(२) शंकरानन्द—महात्मा–महान् अर्थात् अप्रमेय आतमा (स्वभाव) जिनका है ऐसे महात्मा वासुदेव ने उसी क्षण **व्यपेतभीः प्रीतमनाः**—भय से रहित तथा प्रसन्न होकर फिर 'तुम मेरे उसीरूप को देखो' ऐसा कहकर उसी क्षण अपना रूप दिखलाया। उपसंहार और दर्शन दोनों पलक मूँदने और खोलने के समान अपने अधीन है यह कहने के लिए 'तथा' कहा है। फिर सौम्य शरीर धारण कर धैर्यप्रद वचन से आश्वासन देकर अर्जुन को निर्भय किया।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में भगवान् ने अर्जुन के प्रति जो वचन कहा उसके पश्चात् पुनः अपने रूप अर्थात् जिस रूप में कंस के कारागार में वसुदेव व देवकी के सामने पहले प्रकट हुए [अर्थात् किरीट मकर कुण्डल गदाचक्रादि युक्त चतुर्भुज रूप जो श्रीवत्स, कौस्तुभ बनमाला आदि से सुशोभित थे उस रूप को विश्वरूप का उपसंहार कर अर्जुन को दिखलाया। भगवान् के शुद्धचैतन्यस्वरूप माया से रहित होने के कारण उनका कोई विशेषरूप नहीं हो सकता क्योंकि सभी रूप तथा नाम माया से ही प्रतीत होते हैं। दूसरी बात यह है कि जिसका कोई विशेषरूप है वह अवश्य ही सीमित (परिच्छिन्न) होगा अतः अशेष अनंत कभी नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्र में कहा गया है 'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना' अर्थात् भक्तों की भावनाओं के अनुसार उनके प्रति कृपा करने के लिए निर्गुण, निराकार शुद्ध, अनन्त अद्वैत ब्रह्म माया से बहुरूप में कल्पित होते हैं अर्थात् पृथक् पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न भक्तों के निकट प्राप्त होते हैं। अर्जुन पहले शंखचक्रगदापद्मधारी चतुर्भुजविशिष्ट वासुदेव (श्रीकृष्ण) को ही अपना इष्ट मानकर ध्यान करते थे, अतः अर्जुन के लिए भगवान् का अपना रूप (स्वकं रूपम्) वही है एवं उस रूप में ही अर्जुन भगवान् को देखना

चाहते थे। वसुदेव व देवकी के सामने भी भगवान् चतुर्भुजमूर्ति में प्रकट होकर बाद में देवकी की प्रार्थना से द्विभुजविशिष्ट शान्त मनुष्य देह (सौम्यवपु) को ग्रहण किये थे। यहाँ भी अर्जुन को भगवान् पहले चतुर्भुजविशिष्टरूप को (ध्यान करने के योग्य इष्ट मूर्ति को दिखाकर फिर (पुनः) सखा के रूप से द्विभुजविशिष्ट प्रसन्न मनुष्यमूर्ति (सौम्यवपु) दिखलाकर विश्वरूप दर्शन से भयभीत अर्जुन को भय से मुक्त कर आश्वासन दिया अर्थात् अर्जुन को यह समझाया कि भगवान् महात्मा है अर्थात् भगवान् की आत्मा महान् है अर्थात् सर्वव्यापी एवं सब कुछ है अर्थात् भगवान् 'अणोरणीयान् महतो-महीयान्' अर्थात् भगवान् अणु से अणु और महान् से भी महान् हैं। द्विभुज मनुष्य-मूर्ति में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के सखा हैं चतुर्भुजविशिष्ट मूर्ति में भगवान् अर्जुन के इष्ट तथा अन्तर्यामी गुरु हैं और विश्वरूप में वे भयंकर कालमूर्ति में सबको ग्रास कर रहे हैं अर्थात् भगवान् शान्त से भी शान्त एवं भयंकर से भी भयंकर हैं। परन्तु अपने यथार्थ स्वरूप में वही भगवान् इन सब सर्वप्रपञ्च से रहित होकर अपने अखण्डाद्वैत स्वरूप में सदा ही प्रतिष्ठित रहते हैं। इसप्रकार भगवान् के लीलाशरीर तथा नित्यस्वरूप जानने को ही पूर्णज्ञान कहते हैं। भगवान् महात्मा होने के कारण परमकरुणाशील हैं एवं अपने भक्त अर्जुन को इसलिए ही उस ज्ञान का अनुभव कराकर अर्जुन को कृतार्थ किया।

[भगवान् ने प्रसन्न मनुष्य देह ग्रहण कर जब भयभीत अर्जुन को धीरज धराया तब अर्जुन ने क्या किया इसको अब कहते हैं—]

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ ५१॥

अन्वय—अर्जुन उवाच—हे जनार्दन ! तव इदम् सौम्यम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा इदानीम् अहम् सचेताः संवृत्तः अस्मि, प्रकृतिम् च गतः (अस्मि)।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा हे जनार्दन ! तुम्हारी यह सौम्य मानवदेह देखकर अब मैं भय को त्यागकर प्रसन्नचित्त तथा प्रकृतिस्थ (स्वस्थ) हो गया हूँ।

भाष्यदीपिका—अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा—हे **जनार्दन !**—भक्तों के दुःख को जो अर्दन (नाश) करते हैं वह जनार्दन हैं अर्थात् सर्वदुःख हरण करने वाला है। प्रसन्न मनुष्यमूर्ति धारण कर अर्जुन का भय तथा मोह दूर कर भगवान् ने उनको धीरज धराया इसलिए अर्जुन ने 'जनार्दन' कहकर भगवान् को सम्बोधन किया। **तव इदम् सौम्यम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा**—तुम्हारे इस प्रसन्नमुख सौम्य मानुषरूप को देखकर अर्थात् तुम्हारी जिस मूर्ति को सखारूप से जाना था उसे देखकर **इदानीम्**—अधुना (अब) **अहम् सचेताः संवृतः अस्मि**—मैं सचेत (प्रसन्नचित्त) हुआ हूँ अर्थात् तुम्हारी प्रसन्नमूर्ति के दर्शन से मेरा भय एवं मोह (चित्तविक्षेप) नष्ट होने के कारण मैं प्रसन्नचित्त हुआ हूँ। **प्रकृतिम् च गतः (अस्मि)**—तथा अपनी प्रकृति को अर्थात् स्वभाव (वास्तविक स्थिति) को प्राप्त हुआ हूँ। [भयजनित व्यथा से रहित होकर मैं स्वस्थता (अपने स्वभाव में स्थिति) को प्राप्त हुआ हूँ]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[उसके पश्चात् निर्भय हुआ अर्जुन बोला—] **इदम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा इत्यादि**—हे जनार्दन ! तुम्हारे इस मानुषिक सौम्य रूप को देखकर अब मैं **सचेताः**—(प्रसन्नचित्तवाला) हो गया हूँ। तथा अपनी प्रकृति को (स्वास्थ्य को-स्वाभाविक स्थिति को) भी प्राप्त हो गया हूँ। शेष स्पष्ट है।

(२) शंकरानन्द—मानुषरूप का दर्शन कर एवं आश्वासन के वचन सुनकर स्वस्थ होकर अर्जुन बोले-**सौम्यं तव इदम् मानुषम् रूपम् दृष्ट्वा**—तुम्हारे इस सौम्य (शान्त) मानुषिक रूप को देखकर **इदानीम् प्रकृतिम् गतोऽस्मि**—अब भय कम्प आदि रूप विकृति का त्याग कर प्रकृति को (स्वभाव को अपनी स्थिति को) प्राप्त हुआ हूँ। तथा **सचेताः सवृत्तोऽस्मि**—सचेताः (स्वस्थ चित्त) हो गया हूँ।

(३) नारायणी टीका—पहले कहा जा चुका है कि शान्त तथा घोर मूर्ति में भगवान् एक ही शुद्धचैतन्यरूप से अर्थात् सर्वात्मभाव से विद्यमान रहते हैं किन्तु जब तक जीवत्व-बुद्धि रहती है तब तक भगवान की भयंकर मूर्ति को देखकर मनुष्य भयभीत हो जाता है एवं उनकी शान्तमूर्ति देखकर भयकृत व्यथा से रहित होकर प्रसन्नचित्त होता है ! मनुष्य की दृष्टि में मनुष्य शरीर ही स्वाभाविक है, अतः मनुष्य देह देखकर जिस प्रकार प्रसन्न होता है। उस प्रकार व्याघ्रसिंह आदि को देखकर नहीं होता

है। यद्यपि भगवान सभी मूर्ति में समान हैं तथापि अर्जुन को भगवान ने जब मनुष्य-मूर्ति ग्रहणकर दिखलाया जो कि तुम अर्जुन के सखा की मूर्ति थी, अर्जुन भी उसे देखकर बहुत ही प्रसन्नचित्त हो गये।

[भगवान् चार श्लोकों से अपने किए हुए अनुग्रह की अत्यन्त दुर्लभता दिखाते हुए कह रहे हैं—]

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥ ५२॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच—मम यत् इदम् रूपम् दृष्टवान् असि तत् सुदुर्दर्शम् देवाः अपि अस्य रूपस्य नित्यम् दर्शनकांक्षिणः।

अनुवाद—भगवान् ने कहा तुमने मेरा जो रूप देखा उसका दर्शन होना अत्यन्त दुर्लभ है। देवता लोग भी इस रूप के दर्शन करने की इच्छा करते हैं।

भाष्यदीपिका—**श्रीभगवान् उवाच**—भगवान ने कहा—**मम यत् इदम् रूपम् दृष्टवानसि तत् सुदुर्दर्शम्**—तुमने इस समय मेरा जो विश्वरूप देखा है वह देखने के लिए अत्यन्त दुर्दर्श है अर्थात् इसका दर्शन बड़ी कठिनता से होता है। **देवाः अपि अस्य रूपस्य नित्यम् दर्शनकांक्षिणः**—देवता लोग भी मेरे इस रूप का सदा दर्शन करने की इच्छा करते हैं। तात्पर्य यह है कि दर्शन की इच्छा करते हुए भी देवता लोग तुम्हारे समान न तो पहले इस रूप को देखे हैं और न आगे भी देखेंगे क्योंकि 'नित्यं' शब्द से भगवान् ने उनके दर्शन की अभिलाषा की नित्यता बतलाई है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अपने किये हुये अनुग्रह की दुर्लभता दिखाते हुये श्रीभगवान् बोले—**सुदुर्दर्शम् इदम् रूपम् इत्यादि**—मेरे जिस रूप को तुमने देखा वह दुर्लभ अर्थात् इसे देखना अत्यन्त कठिन है क्योंकि देवता लोग भी सर्वदा ही इस रूप का केवल दर्शन करना ही चाहते हैं किन्तु इसे देख नहीं पाते हैं।

(२) शंकरानन्द—[अर्जुन को शान्त देखकर उन्हें आह्लादित करने के लिए श्रीभगवान् बोले—]

सुदुर्दर्शम् यत् इदम् मम रूपम् तत् त्वम् दृष्टवानसि—अपरिमित तेजोमय होने के कारण दुःख से (कठिनता से) जिसका दर्शन होता है वह दुर्दर्श है। जो अत्यन्त दुर्दर्श (सुदुर्दर्श) जो मेरा विश्वरूप है उसे तुम देख चुके हो अर्थात् उस प्रकार का दर्शन अलभ्य होने पर भी तुमने भाग्य से ही उसका दर्शन कर लिया। अलभ्य क्यों है उसका अब स्पष्टीकरण करते हैं। **अस्य रूपस्य देवाः अपि नित्यम् दर्शन-कांक्षिणः**—तेज, बल, और पौरुष से श्रेष्ठ देवतालोग भी मेरे इस रूप के नित्य दर्शन की (सर्वदा इस रूप को देखने की) इच्छा करते हैं। परन्तु जिसप्रकार मेरे इस रूपको तुमने प्रत्यक्ष देखा ऐसा वे नहीं देख पाते हैं। अतः देवताओं को भी मेरा दर्शन दुर्लभ ही है।

(३) **नारायणी टीका**—सृष्टि में देवता लोग मनुष्य से श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनकी स्थिति आयु तथा भोग मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों से अधिक है किन्तु इसलिए यह बात नहीं है कि आध्यात्मिक जगत् में भी अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्ति में भी मनुष्य से उनकी श्रेष्ठता अधिक होगी। देवताओं के लिये भी कर्म निर्दिष्ट है, इसलिए जबतक कल्प की स्थिति है तबतक उनको विशेष-विशेष निर्दिष्ट कर्म करना पड़ता है जैसे ब्रह्मा का सृष्टि कर्म, विष्णु का पालन कर्म इत्यादि अतः मनुष्य जिसप्रकार किसी समय में संसार के कार्य से उपरत होकर भगवान् में लय हो सकता है देवताओं की इसप्रकार सामर्थ्य नहीं हैं। उनको अपने अपने कर्त्तव्य कर्मों से स्वेच्छापूर्वक उपरत होने की सामर्थ्य नहीं है इसलिए शास्त्र में मनुष्य जीवन को अतिदुर्लभ माना है। भगवान के विश्वरूप को अर्जुन देख सका क्योंकि अर्जुन भगवान् को सखा तथा गुरु एवं आत्मा के रूप से मानकर उनकी चिन्ता से ही सदा निमग्न रहते थे। भगवान् के विश्वरूप दर्शन की योग्यता की प्राप्ति का यह ही उपाय है। अर्जुन के समान भक्त के बिना इस प्रकार दर्शन दूसरों के लिए अशक्य है अर्थात् 'सुदुर्दर्श' है। देवताओं में सत्वगुण के प्रकाश का आधिक्य रहने के कारण वे भगवान् का इसप्रकार का महिमापूर्ण अलौकिक तथा अद्भूत रूप दर्शन करने के लिए सदा ही उत्सुक रहते हैं। परन्तु कर्म में फँसे हुए देवता लोग भगवान् के अनन्य भक्त न होने के कारण इस रूप को कभी देख नहीं पाते हैं। इस विश्वरूप के दर्शन की सामर्थ्य कब होती है उसका भगवान् स्वयं ही अपने मुख से परवर्ती दो श्लोकों में वर्णन कर रहे हैं।

[तुम्हारा विश्वरूप अत्यन्त दुर्लभ क्यों है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

अन्वय—(त्वं) यथा मां दृष्टवान् असि, एवंविधः अहं न वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया द्रष्टुं शक्यः ।

अनुवाद—तुमने मुझे जिस प्रकार से देखा है उस प्रकार विश्वरूप मैं न तो वेदों से, न तपों से, न दानों से और न यज्ञों से ही देखा जा सकता हूँ ।

भाष्यदीपिका—**त्वम् यथा माम् दृष्टवान् असि एवंविधः अहम्**—जिसप्रकार मुझे तुमने देखा है, ऐसा विश्वरूप धारणकारी मैं **न वेदैः, न तपसा न दानेन न च ईज्यया द्रष्टुम् शक्यः**—न तो ऋग्, यजु, साम और अथर्वादि चारों वेदों से, न चान्द्रायण आदि उग्र तपों से, न गौ, भूमि तथा सुवर्णादि के दान से और न यजन से ही मैं देखा जा सकता हूँ अर्थात् केवल इज्या से (यज्ञ या पूजा से) भी मेरे विश्वरूपको कोई देख नहीं पाता है । ['च' शब्द से अन्य सब उपायों को भी उपलक्षण कर सूचित कर रहे हैं अर्थात् 'च' शब्द का समुच्चय अर्थ में प्रयोग होने के कारण यह सूचित किया गया है कि वेद पाठादि के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से भी मेरे यह विश्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं है ।]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—अर्थ स्पष्ट है ।

(२) **शंकरानंद**—[जिन लोगों ने पूर्व जन्म में भोग की इच्छा से विधिपूर्वक वेदाध्ययनादि पुण्यकार्यों का अनुष्ठान कर देवभाव को प्राप्त किया हैं अर्थात् इन्द्रादि पद प्राप्त किया है, मेरी भक्ति से शून्य होने पर उनको मेरा दर्शन प्राप्ति नहीं होता है, ऐसा सूचित करने के लिए भगवान् वेदाध्ययन आदि की अपने स्वरूप के साक्षात्कार की साधनता का निषेध करते हैं—**न वेदैः न तपसा न दानेन न च ईज्यया एवंविधः अहम् द्रष्टुम् शक्यः**—इस प्रकार विश्वरूप वाला मैं न वेदों से (सब वेदों के अध्ययन से), न कुछ (कठोर) चान्द्रायण आदि तपों से, न कन्यादानादि दानों से और न इज्या से [श्रौत (वेदविहित) और स्मार्त (स्मृतिविहित) कर्मों से]

देखा जा सकता हूँ। **यथा माम् त्वम् दृष्टवान् असि**—जैसा तुमने मुझको देखा है [वैसे वेदाध्ययनादि पुण्य कर्म करने वाले मुमुक्षु सविशेष को ही जब नहीं देख सकते, तब मेरे निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार वे कैसे कर सकेंगे यही कहने का अभिप्राय है।] पूर्ववर्ती श्लोक में 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' (वेद और यज्ञों के अध्ययन से) मेरा दर्शन नहीं कर सकते, ऐसा भगवान् ने कहा। इससे प्रतिपादित अर्थ का ही 'नाहं वेदैः' अर्थात् न मैं वेदों से इत्यादि कहकर फिर उसी अर्थ का प्रतिपादन कर रहे हैं। अतः इससे भगवान् स्पष्ट सूचित कर रहे हैं कि कोई कर्म मोक्ष के प्रति साक्षात् साधन किसी प्रकार से भी नहीं हो सकते।

(३) नारायणी टीका—४८ वें श्लोक से जो भगवान् ने कहा वह ही वर्तमान श्लोक में विश्वरूप दर्शन की अत्यन्त दुर्लभता दिखाने के लिए पुनः आवृत्ति कर रहे हैं। अतः इसका तात्पर्य ४८ वें श्लोक की नारायणी टीका में पहले ही दिया गया है। सारांश यह है कि वेदाध्ययन, कठोर तपस्या, ध्यान, उत्तम दान तथा पूजा इत्यादि कर्म नाशवान होने के कारण अविनाशी नित्य शाश्वत सर्वात्मा भगवान् की प्राप्ति का साक्षात् साधन नहीं हो सकता। वे सब चित्तशुद्धि के लिए किये जाते हैं एवं चित्तशुद्धि होने पर तत्त्व ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान् का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। परवर्ती श्लोक में विश्वरूप दर्शन तथा विश्वातीत (मायातीत) यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कैसे हो सकता है, यह भगवान् स्वयं ही कह रहे हैं।

[किस उपाय द्वारा तुम्हारा यथार्थस्वरूप देखने (जानने) में समर्थ हुआ जा सकता है इसके उत्तर में कहते हैं—]

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

अन्वय—हे परंतप अर्जुन ! अनन्यया भक्त्या तु एवंविधः अहं ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च शक्यः अस्मि।

अनुवाद—हे अर्जुन ! परंतप ! अनन्यभक्ति से ही मेरे इस विश्वरूप को परोक्ष भाव से अर्थात् गुरु तथा शास्त्रवाक्य से जाना जा सकता है एवं उसके पश्चात् मेरे इस

रूप का तात्पर्य तात्त्विक दृष्टि से देखा जा सकता है अर्थात् साक्षात्कार (प्रत्यक्ष अनुभव) करने में समर्थ होता है एवं अन्त में मुझमें प्रवेश करके अर्थात् मेरे साथ एकात्मभाव प्राप्त करके मोक्ष लाभ कर सकता है।

भाष्यदीपिका—**हे परंतप अर्जुन**—हे शत्रुदमनकारी अर्जुन। ['अर्जुन' शब्द का अर्थ शुद्धबुद्धि है। जीव शुद्धबुद्धि सम्पन्न होने से ही अज्ञानरूप शत्रु का नाश करने में समर्थ होता है, इसलिए अर्जुन 'परन्तप' है। अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य समुदाय से अपने को मुक्तकर भगवान् को यथार्थ भाव से जानने की, देखने की, एवं उनमें प्रवेश करने की सामर्थ्य अर्जुन की है यह सूचित करने के लिए भगवान् ने 'परंतप' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों से अर्जुन को सम्बोधन किया। **अनन्यया भक्त्या तु**—अनन्यभक्ति से अर्थात् जो भक्ति भगवान् को छोड़कर अन्य किसी पृथक् वस्तु में कभी भी नहीं होती है, वह अनन्यभक्ति है अर्थात् जिस भक्ति के कारण भक्तको समस्त इन्द्रिय द्वारा एक वासुदेव परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है उसे अनन्य भक्ति कहते हैं। श्लोक में 'तु' शब्द अन्यसाधनों की व्यावृत्ति के लिए है अर्थात् अनन्या भक्ति ही एकमात्र भगवद्दर्शन का उपाय (साधन) है वेदाध्ययन, तपस्या, दान, यज्ञ इत्यादि अथवा अन्य कुछ भी इसका साधन नहीं है, यह ही 'तु' शब्द से सूचित किया गया है। **एवंविधः अहम्**—इस प्रकार के विश्वरूप वाला मैं परमेश्वर **ज्ञातुम्**—शास्त्र द्वारा जाना जा सकता हूँ। केवल शास्त्र द्वारा जाना जा सकता हूँ इतना ही नहीं **द्रष्टुम् च तत्त्वेन**—तत्त्व से देखा भी जा सकता हूँ अर्थात् साक्षात् भी किया जा सकता हूँ। [वेदान्त के वाक्य के श्रवण, मनन, और निदिध्यासन का परिपाक होने पर मेरे सर्व उपाधि रहित अखण्डाद्वैत सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार भी किया जा सकता है—(मधुसूदन) **प्रवेष्टुम् च शक्यः**—फिर स्वरूप का साक्षात्कार होने से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर तत्त्वतः मुझ में प्रवेश कर सकता है अर्थात् तादात्म्य भाव से (एकत्वबुद्धि से ही) मुझे प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् मुझमें प्रविष्ट होकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। [**शक्य अहम्**—यहाँ पूर्व श्लोक के समान 'शक्यः' शब्द का छन्द के अनुरोध से विसर्ग का लोप हुआ है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[तो फिर किस उपाय से तुम देखे जा सकते

हो इसपर कहते हैं-] **भक्त्या तु अनन्यया शक्यः इत्यादि**—हे परंतप ! (शत्रु-दमनकारी अर्जुन !) केवल मुझमें एक निष्ठावाली भक्ति के द्वारा (अनन्य भक्ति के द्वारा) इस प्रकार के विश्वरूप वाला मैं यथार्थ तत्त्व से अर्थात् पारमार्थिक रूप से जाना जा सकता हूँ, शास्त्र द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ तथा तादात्म्यभाव से अर्थात् एकत्व बुद्धि से प्रवेश भी किया जा सकता हूँ। (अर्थात् मेरे अनन्यभक्त मेरे साथ एक होकर मुझमें प्रवेश कर सकते हैं), अन्य उपाय से नहीं।

(२) **शंकरानन्द**—[यदि वेद आदि तुम्हारे साक्षात्कार के साधन नहीं हैं तो किस साधन से तुम्हारा साक्षात्कार होता है ऐसी आकांक्षा होनेपर कहते हैं—] **तु अनन्यया भक्त्या**—'तु' शब्द भक्ति से अतिरिक्त अन्य में असाधनत्व निर्धारण करने के लिए है। **सर्वं खल्विदम् ब्रह्म**—(यह सब निश्चय ब्रह्म ही है। इत्यादि शास्त्र के अर्थ के उपदेश में उत्पन्न हुए ज्ञान से जो अनन्यभक्ति होती है उससे (अर्थात् जो कुछ सुना गया, देखा गया, छुआ गया, सोचा गया वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार सबको तथा अपने को ब्रह्ममात्र स्वीकार करनेवाली तथा दूसरे प्रत्यय से शून्य भक्ति से) मुझको सर्वत्र अनुसन्धान करने पर ही इस प्रकार के विश्वरूपवाला मैं परमात्मा सम्यक् प्रकार से (भलीभांति) आराधित होनेपर मेरे अनन्यभक्त तत्त्व से (यथार्थ स्वरूप से) 'यह ही परमार्थ वस्तु है' इस प्रकार जानने में (निश्चय करने में), देखने में (वही मैं हूँ ऐसा अपने स्वरूप से साक्षात्कार करने में), और मुझे प्रवेश करने के लिए (देहात्म-बुद्धि से रहित होकर मेरे स्वरूप में स्थित होने के लिए भी) शक्य अर्थात् समर्थ होते हैं। अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप से मैं उनके ज्ञान का विषय होता हूँ, कहने का अभिप्राय यह है कि चित्तशुद्धि के लिए सविशेष विश्वरूप ब्रह्म की श्रद्धा, भक्ति से "ब्रह्म ही यह सब है" इस प्रकार उपासना करनेपर उससे भेद-प्रत्यय नाश होने के कारण परिशुद्ध चित्तवाले मुमुक्षुओं को निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए तथा उसके स्वरूप से अवस्थानरूप विदेहमूर्ति प्राप्त करने के लिए मेरे प्रति अनन्यभक्ति ही विषय है अर्थात् एकमात्र साधन है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोकों में भगवान् ने यह स्पष्ट किया है कि वेदाध्ययन, तपस्या इत्यादि से कोई भी मेरे इस विश्वरूप का दर्शन नहीं कर

सकता अतः मेरे विश्वातीत यथार्थ स्वरूप को (पारमार्थिक सत्ता को) भी नहीं जान सकता। प्रश्न होगा—तब तुमको जानने के लिए निश्चित पन्था (उपाय या साधन) क्या है ? इसके उत्तर में अब भगवान् कह रहे हैं कि "मेरे प्रति अनन्यभक्ति ही मुझको जानने के लिए, तत्त्व से देखने के लिए एवं मुझमें प्रवेश करने के लिए अर्थात् मेरे साथ एकत्व प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। दूसरा अन्य कोई उपाय नहीं है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेदाध्ययन, तपस्या, दान तथा यज्ञादि का अनुष्ठान निष्फल या व्यर्थ है। जबतक देहात्मबुद्धि रहती है तबतक विधिपूर्वक उन सबका अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है क्योंकि उनके बिना चित्तशुद्धि नहीं होती है। चित्तशुद्धि होनेपर वेदान्त-वाक्य का गुरुमुख से श्रवण करने के पश्चात् भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में परोक्ष ज्ञान होता है अर्थात् भगवान् ही एकमात्र सत्य वस्तु है एवं भगवान् ही सर्वरूप में विद्यमान हैं इस प्रकार का ज्ञान होता है। यह ही श्लोक में 'ज्ञातुम्' शब्द का तात्पर्य है। कठोपनिषद् में इसलिए कहा गया है—

अस्ति इत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति ॥ (कठो० उ० २।३।१३)

अर्थात् शास्त्र गुरु की कृपा से पहले सर्वात्मा ब्रह्म है (अस्ति) यह जानना आवश्यक है अर्थात् ब्रह्म (भगवान्) ही सब कुछ है यह निश्चित करने के पश्चात् उनके प्रति अनन्यभक्ति होती है। मुमुक्षु जीव सर्व इन्द्रियों द्वारा जो कुछ की उपलब्धि करते हैं वह सर्वात्मा भगवान् वासुदेव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, इस प्रकार सर्वत्र एवं सर्ववस्तु में एकमात्र भगवत्सत्ता को ही अनुभव करते हैं—यह ही अनन्यभक्ति का लक्षण है। श्रवण से परोक्षज्ञान होता है। इस प्रकार परोक्ष ज्ञान के पश्चात् मननादि से अर्थात् 'अहम् ब्रह्मास्मि, सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त-वाक्य के मनन एवं निदिध्यासन से उत्पन्न हुई अनन्यभक्ति से जो ज्ञानरूप दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है उससे भगवान् के विश्वरूप को तत्त्व से अर्थात् प्रत्यक्षरूप से देखने में समर्थ होते हैं। यह ही 'तत्त्वेन द्रष्टुम्' पद का तात्पर्य है। सर्वत्र एवं सर्वरूप में भगवान् को ही देखते हुए जब अपनी पृथक् सत्ता का ज्ञान लुप्त हो जाता है तब मुमुक्षु भगवान् में प्रवेश कर उनके साथ एक होकर नित्यशुद्धबुद्धमुक्त अखण्ड अद्वैत ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। श्लोक में

'प्रविष्टुम् च' पद का यही तात्पर्य है। इसे कैवल्य या मोक्ष कहते हैं। इसकी प्राप्ति से ही मनुष्य जीवन की चरम सफलता की प्राप्ति होती है, यह भगवान के कहने का अभिप्राय है।

दूध के बारे में श्रवण कर उसकी शक्ति का परिचय पहले जानना पड़ता है। तत्पश्चात् दूध को देखना पड़ता है। उसके बाद दूध को पीना पड़ता है एवं पीकर उसको पचाना पड़ता है। इस प्रकार जब दूध की शक्ति अपनी शक्ति के साथ एक हो जाती है तभी दूध का यथार्थ स्वरूप अनुभव किया जा सकता है उसके पहले नहीं। इस प्रकार भगवान् के भी परिचय को जानना, उनको सर्वत्र तत्त्व से अर्थात् यथार्थ-रूप से देखना एवं सर्वस्वरूप तथा सर्वात्मा भगवान में प्रविष्ट होकर उनके साथ एक होना—यही साधनपथ का क्रम है एवं यही संसारगति की निवृत्ति के लिए अनिवार्य उपाय है।

[सम्पूर्ण गीताशास्त्र का जो सारभूत अर्थ निःश्रेयस् अर्थात् मोक्षलाभ का एकमात्र उपाय है वह मुमुक्षु व्यक्तिगण जिससे अनुष्ठान कर सके उसके लिए यहाँ वही उपाय संक्षेप से पुंजीकृत (इकट्ठा करके) बतलाया जाता है—]

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

अन्वय—हे पाण्डव ! यः मत्कर्मकृत् मत्परमः, मद्भक्तः, संगवर्जितः, सर्वभूतेषु निर्वैरः स माम् एति।

अनुवाद—हे पाण्डुपुत्र ! जो मेरे लिए ही सब कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, जो मत्परम है अर्थात् मुझको ही परमगति (अन्तिम प्राप्तव्य वस्तु) मानते हैं, जो मेरा भक्त हैं अर्थात् सब प्रकार से तथा पूर्ण उत्साह से सर्वात्मा मेरा ही भजन करते हैं, जो धन-पुत्र-कलत्रादि में संग (स्नेह या मोह) से वर्जित हैं और जो समस्त प्राणियों के प्रति वैरभाव से (शत्रुताबुद्धि से) रहित होते हैं वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—हे पाण्डव !—हे अर्जुन ! [तुम पवित्र पाण्डुवंश में उत्पन्न हुए हो, अतः जिन गुणों से सम्पन्न होकर मुझको मेरा भक्त प्राप्त हो सकता है

उनसब गुणों से तुम युक्त होने के कारण तुम अवश्य ही मुझे प्राप्त करोगे। इस अभिप्राय से ही भगवान् ने अर्जुन को 'पाण्डव' शब्द से सम्बोधित किया।] **यः**—जो **मत्कर्मकृत्**—मेरे लिए ही (अर्थात् मुझ परमेश्वर के संतोष के लिए ही) ईश्वर-अर्पणबुद्धि से शास्त्रविहित सभी कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करता है [प्रश्न होगा—यदि उस कर्म करनेवाले की स्वर्गादि की कामनाएँ रहें तब ऐसा कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं **मत्परमः**—जिसने मेरे को ही परमगति (अपने प्राप्तव्यरूप से) निश्चय कर रखा है-स्वर्गादि को नहीं, वह "मत्परम" है एवं इस प्रकार का भक्त ही मेरे लिए 'मत्कर्मकृत्' हो सकता है अर्थात् केवल मेरे लिए ही वह कर्म करता है-दूसरी किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए नहीं। सेवक स्वामी के लिए कर्म करता है परन्तु स्वामी को परमगति (मरने के पश्चात् प्राप्तव्य अर्थात् पाने योग्य) नहीं मानता है। परन्तु जो 'मत्परमः' (मत्परायण) होगा वह तो मेरे लिए ही कर्म करनेवाला है और मुझे ही अपनी परमगति समझता है। इस प्रकार जो 'मत्परम' होता है वह मुझमें ही निष्ठावान् होता है एवं इस प्रकार होने के फलस्वरूप वह **मद्भक्तः**—मेरा ही भक्त हो जाता है अर्थात् सब प्रकार से सब इन्द्रियों द्वारा सम्पूर्ण उत्साह से मेरा ही भजन करता है [अर्थात् मुझको ही सर्वात्मरूप से (अपना तथा समस्त जगत् का प्रियतम आत्मा मानकर) निरन्तर मुझको ही स्मरण करता है।] प्रश्न होगा कि धन, मान, पुत्र कलत्र इत्यादि के प्रति आसक्ति (स्नेह) विद्यमान रहते हुए सब प्रकार से तुम्हारा भजन कैसे सम्भव होगा ? इसपर कहते हैं कि नहीं, जो 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः', एवं 'मद्भक्तः' हैं उनका अन्तःकरण सदा ही मुझमें निविष्ट रहता है, अतः वह **संग-वर्जितः**—अर्थात्, धन, पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धु इत्यादि के संग से (प्रीति या स्नेह से) रहित होता है अर्थात् मुझसे अतिरिक्त बाह्य किसी विषय में उसकी प्रीति या स्नेह नहीं रहता है। प्रश्न होगा-हो सकता है कि तुम्हारे भक्त का किसी के प्रति राग (आसक्ति) नहीं है परन्तु जबतक 'मैं-मेरा, तू-तेरा' इस प्रकार की भेदबुद्धि रहेगी तबतक दूसरे के प्रति द्वेष या वैरभाव तो रहेगा ही ? इसपर कहते हैं-नहीं। मेरा भक्त सर्वत्र तथा सर्व अवस्था में एकमात्र मेरी सत्ता को ही अनुभव करता है, अतः 'सर्वभूतेषु निर्वैरः' समस्त प्राणियों के प्रति वैरभावशून्य [अपने अत्यन्त अनिष्ट की चेष्टा करनेवाले में भी

शत्रुभाव से रहित (अर्थात् द्वेषशून्य) रहता है। ऐसा जो मेरा भक्त है **स माम् एति**—वह (अपने से अभिन्न रूप से) मुझे प्राप्त करता है अर्थात् मैं ही उसकी परमगति हूँ, अतः मेरा भक्त मुझे ही अपनी आत्मा निश्चयकर मेरे साथ एकत्व अनुभव करके इस संसारचक्र से मुक्त हो जाता है—यह ही कहने का अभिप्राय है। [हे अर्जुन ! तुम्हें यह बात जानने की इच्छा थी कि किस प्रकार से मुझे पूर्णरूप से तुम प्राप्त हो सकोगे, अतः मैंने भी इसका उपदेश तुमको दिया अर्थात् मेरी प्राप्ति करने के लिए जो साधन है उसका सार-संग्रह कर संक्षेप से तुमको उपदेश दिया जिससे तुम उसका अनुष्ठानकर मुझ भगवान् को प्राप्त कर सको (आनन्दगिरि)। अतः हे पाण्डव ! सावधान होकर इस उपदेश को धारणकर सर्वात्मा-सर्वज्ञ सर्वेश्वर विश्वरूप मुझ भगवान् की उक्तक्रम से उपासनाकर मुक्ति प्राप्त कर सकोगे। आनन्दगिरि कहते हैं कि मत्कर्मकृत् इत्यादि क्रममुक्तिरूपफल देनेवाली उपासना का प्रकार कहकर इस अध्याय में 'तत्' पद का वाच्यार्थ व्यवस्थापित हुआ है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—अब समस्त शास्त्रों का सार परम रहस्य सुनो—यह भगवान् कहते हैं—'मत्कर्मकृत्' इत्यादि] हे पाण्डुनन्दन ! जो मेरे लिए कर्म करता है वह मत्कर्मकृत् (मेरा कर्म करने वाला) है। मैं ही जिसका परमपुरुषार्थ जीवन का प्रयोजन हूँ वह मत्परम होता है। इस प्रकार 'मत्कर्मकृत्' तथा 'मत्परम' मेरा ही भक्त अर्थात् केवल मेरे आश्रित [पुत्र आदि में आसक्तिरहित संगवर्जित और सर्व प्राणियों में वैरभाव से रहित] होता है। इस प्रकार का जो भक्त है वह मुझे प्राप्त होता है दूसरा नहीं।

[देवैरपि सुदुर्दर्शं तपोज्ञानादिकोटिभिः।
भक्ताय भगवानेवं विश्वरूपमदर्शयत् ॥

अर्थात् तप, ज्ञान आदि करोड़ों उपायों द्वारा देवताओं के लिए भी जिन्हें देख पाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे विश्वरूप को भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन को दिखाया]।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार भक्त द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इसमें कारण कहकर जिन पाँच साधनों के सम्बन्ध में कह रहे हैं उन साधनों के द्वारा जो

मुझे भजता है उसे चित्त प्रसाद, सम्यग् ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस प्रकार सूचित करते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं—'मत्कर्मकृत्' इत्यादि से।

मत्कर्मकृत्—जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं परन्तु मेरे लिए ही समस्त चेष्टाओं को अर्थात् लौकिक तथा वैदिक कर्मों को करता है वह मत्कर्मकृत् **मत्परमः**—जिस फल के लिए पुरुष कर्म करता है उसी फल को वह प्राप्त करता है, अन्य फल को नहीं। इस प्रकार जो मेरे लिए कर्म करता हैं वह भी मुझको ही प्राप्त कर लेता है। उससे कृत कर्म का फलभूत परम (सर्वश्रेष्ठ) गति मैं ही हूँ। अतः वह 'मत्परम' है अथवा वही (भगवान् ही) मेरा रक्षक है, वह आश्रयणीय (आश्रय लेने के योग्य) है, वह प्रार्थनीय है, वह प्राप्तव्य है, वही आधार है और वही हमारी गति है इसप्रकार की निरतिशय (अत्यन्त) प्रीति से मुझको ही जो परम (रक्षकत्व आदि धर्मों से उत्कृष्टतम) मानता है वह मत्परम है अथवा जिससे पदार्थों को जाना जाता है वह 'मा' है अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति। मत्परा (मेरे स्वरूप के ग्रहण में तत्पर है) मा इन्द्रियों की वृत्ति जिसकी वह 'मत्परम' है। ऐसा व्यक्ति मेरा **भक्तः**—भक्त होता है अर्थात् सर्वात्मा मुझको सर्वत्र सर्वदा भजता है, चक्षु आदि की विषयभूत वस्तु सब ब्रह्म ही है, ऐसा अनुसन्धान करता है। अतः वह **संगवर्जितः**—पुत्र, मित्र, कलत्रादि प्रीति के विषयों में असत् बुद्धि (मिथ्यात्व बुद्धि) होने से सबके संग से (अनुरक्ति से) रहित होता है। यदि प्रश्न हो कि उसमें अनुराग न होने से द्वेष तो होगा ही? ऐसी आशंका की निवृत्ति के लिए कहते हैं **निर्वैरः**—अपने को उपद्रव करने वाले सब प्राणियों में भी वैर (शत्रुत्व) बुद्धि जिसकी सर्वत्र ब्रह्मभावना से निर्गत हो चुकी है अर्थात् निकल गई है, वह मुमुक्षु निर्वैर (सर्व विकारों से रहित) होता है। इसप्रकार मेरा भक्त श्रेष्ठ निर्विशेष ब्रह्म के विज्ञान से आत्मप्रसाद सम्पन्न होकर मुझ परमब्रह्म को प्राप्त होता अर्थात् विदेहमुक्ति रूप ऐश्वर्य को प्राप्त होता है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में भगवान् ने कहा कि अनन्य भक्ति से ही मुमुक्षु मुझको जानने में, यथार्थ रूप से देखने में एवं अन्त में मुझमें प्रवेश करने में समर्थ होता है अन्य कोई उपाय नहीं है। उस अनन्य भक्ति को किस प्रकारसे (किस क्रम से) मुमुक्षु जीव प्राप्त हो सकता है उसको श्री भगवान् निर्देश कर अत्र अध्याय का उपसंहार करते हैं।

साधारण जीव देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि में आत्माभिमान करके उनकी तृप्ति के लिए ही दिन रात काम करता है किन्तु बहु जन्म के सुकृति फल से शास्त्र, गुरु और भगवान् की कृपा जिसने प्राप्त की है वह भगवान् के संतोष के लिए ही सर्वचेष्टाये (कर्म) करता है एवं भगवान् में हीं सर्वकर्म तथा उनका फल अर्पण कर देता है। इस प्रकार कर्म का फल है चित्तशुद्धि जिसको प्राप्त होकर मुमुक्षु साधक भगवान् के स्वरूप के बारे में श्रवण, मननं, तथा निदिध्यासन के योग्य होता है। यह ही अनन्य भक्ति प्राप्त होने का प्रथम सोपान है। इसलिए भगवान् कह रहे हैं मत्कर्मकृत् होना होगा। भगवान् के लिए कर्म करते हुए चित्तशुद्धि प्राप्त कर जब वेदान्त वाक्यादि श्रवण कर मुमुक्षु जान लेता है कि मायारचित संसार में सभी वस्तु अनित्य (मिथ्या) तथा दुःखदायक है तब वित्त, कलत्र, यश को जीवन का लक्ष्य वस्तु नहीं मानकर भगवान् को ही जीवन का परम प्राप्तव्य रूप से निश्चय कर लेता है (गीता—९।३३)। तब वह भगवान् का ही निरन्तर भजन तथा चिंतन करता है क्योंकि उनसे अतिरिक्त और कोई वस्तु मुमुक्षु की दृष्टि में प्राप्तव्य नहीं रहती है इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए भगवान् कह रहे हैं—**मत्परमः**—अर्थात् मुझको ही जीवन की एकमात्र लक्ष्य वस्तु रूप से निश्चन करना पड़ेगा। जो इस प्रकार भगवान् के स्वरूप को ही सर्वत्र एवं सर्वदा ग्रहण में तत्पर होता है अर्थात् 'दृश्य वस्तुमात्र ही सब ब्रह्म ही हैं' इस प्रकार जो अनुसन्धान करता है वही भगवान् का अनन्यभक्त होता है। इसलिए भगवान् कह रहे हैं—**मद्भक्तः**—अर्थात् सब विषय का चिन्तन छोड़कर मेरा अनन्य भक्त होना चाहिए। जो सर्वत्र विषयों का मिथ्यात्व एवं एकमात्र आत्मभूत ब्रह्म का ही सत्यत्व निश्चय कर उनका ही अनन्य भक्त होता है। वह सर्वसंग से (पुत्र मित्र बन्धु तथा अन्य विषयों के प्रति आसक्ति से) रहित हो जाता है। इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि मुझे प्राप्त करने के लिए जो अनन्य भक्ति का प्रयोजन है वह तब तक सिद्ध नहीं हो सकती है जब तक अन्य विषयों के संग (आसक्ति) से रहित नहीं हो जाय। जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि से सर्वविषयों से संगरहित होता है तब भक्त साधक स्वतः ही सर्वभूतों में निर्वैर (शत्रुत्वबुद्धिशून्य) होता है क्योंकि 'यह सब ब्रह्म हैं' इस प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि होने के पश्चात् शत्रु और मित्र में किसी प्रकार की भेदबुद्धि का रहना असम्भव

है। आत्मा सबका ही प्रियतम है जब भक्त वही आत्मा को सर्वत्र प्रतिष्ठित देखता है, तब कौन किसके प्रति वैरभाव रखेगा ? मनुष्य जिस फल की प्राप्ति के लिये कर्म करता है उसे वही फल प्राप्त होता है—दूसरा नहीं। इसलिए जो भगवान् के लिए ही कर्म करता है, उनको ही जीवन की परमगति निश्चय कर लेता है, उनका ही निरन्तर चिन्तन करते हुए उनका अनन्यभक्त बन जाता है, उनके प्रति ही निरन्तर संग (आसक्ति) रहने के कारण अन्य सब विषयों से संगरहित होता है, तथा उनको ही सर्वरूप में नाटक करते हुए देखते हैं एवं इसलिए उनकी सर्वत्र आनन्दलीला को ही उपभोग करते हुए आत्मस्वरूप में स्थित होकर निर्वैर अर्थात् शत्रु-मित्रों में भेदबुद्धि से रहित होता है, वह भगवान् को प्राप्त कर लेगा इसमें आश्चर्य की बात क्या है ? यह बात स्पष्ट करने के लिए ही भगवान् कहते **हैं—माम् एति—**अर्जुन उक्त पञ्चसोपान (पाँच सीढ़ियाँ) पार करने के लिए योग्य अधिकारी है इसे सूचित करने के लिए भगवान् ने उनको 'पाण्डव' कहकर सम्बोधित किया। अभिप्राय यह है कि 'तुम पाण्डव हो' अर्थात् शुद्धबुद्धि हो अतः तुम्हारे लिए मुझको उक्त उपायों से प्राप्त करना कोई असम्भव की बात नहीं है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

Sidhabari not far from our *Ashram*. The river close by gurgles enc
cent Dhauladhar mountains along with the lower pine-covered hills
events many thousand years past; for they have been the guardia
sure house of penance.

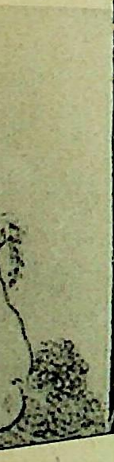

DEVAHUTI IN SIDHABARI

ti was born a princess in the house of the Emperor Manu and had set her heart
arrying the Rishi Kardama. She bore him nine daughters who were later all
to great Rishis and they became the progenitors of the human race. Then she
h to Kapila, an incarnation of Lord Vishnu. After the birth of their son, Kardama
the forest for penances, leaving Devahuti disconsolate.

to reconcile herself to the idea of separation from her beloved husband,
approached the young Kapila, "Your father was the centre of my life, my son.
my heart bear the grief of his absence?"

tructed his mother on Yoga and Sankhya. "Centre your mind on the Self", he
d free yourself from desires. That is the only way to rise above both joy and
Devahuti bowed to her Divine son. She spent the rest of her days in the pursuit
n, in a secluded cave in the Himalayas. And this cave was in Sidhabari. This
entioned in the *Mahabharata* as the sacred *Siddhi-Spot* —later on, it became
i-garden (*Sidhavadi*), which got distorted in the language of the people as

as the name suggests, was a place naturally selected by many *Siddhas* for
severe austerities. The surcharged atmosphere of the place left Devahuti with